

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्यै ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करैं देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

# अथर्ववेदभाष्यम्

## अष्टमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहित
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

*Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.*

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।



प्रथमावृत्तौ } संवत् १९७३ वि० { मूल्यम् २)
१००० पुस्तकानि } सन् १९१६ ई०

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग ( Allahabad ) ॥

* ओ३म् *

# "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है ।"

## आनन्द समाचार ॥

[ आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये ]

**अथर्ववेदभाष्यम्**—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी ( हिन्दी ) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सब साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के परमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्म विद्या, वैद्यक विद्या शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

**स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं**

| काण्ड | १ भूमिका सहित | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | | | पृष्ठ २५१८ लगभग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मूल्य | १।) | १।-) | १॥-) | २) | १॥=) | ३) | २।) | २) | | | १५।) |

काण्ड ६—छप रहा है। काण्ड १०—शीघ्र प्रकाशित होगा।

**हवन मन्त्राः**—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संग्रहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान, सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

**रुद्राध्यायः**—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

**रुद्राध्यायः**—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य )॥

१५ दिसम्बर १६१६

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग ( Allahabad.

## १–सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ८ ॥

| सूक्त | सूक्त के प्रथमपद | देवता | उपदेश | छन्द् |
|---|---|---|---|---|
| १ | अन्तकाय मृत्यवे नमः | प्रजापति | मनुष्य कर्त्तव्य | पुरोबृहती आदि |
| २ | आरभस्वेमाममृतस्य | प्रजापति आदि | कल्याण की प्राप्ति | भुरिक् त्रिष्टुप् आदि |
| ३ | रक्षोहणं वाजिनमा | अग्नि रक्षोहा | राजा का धर्म | त्रिष्टुप् आदि |
| ३।१५ | यः पौरुषेयेण क्रविषा | अग्नि रक्षोहा | मांस भक्षक का शिर काटना | भुरिक् त्रिष्टुप् |
| ४ | इन्द्रासोमा तपतं रक्ष | इन्द्रासोम आदि | राजा और मन्त्री का धर्म्म | जगती आदि |
| ४।४,५ | इन्द्रासोमा वर्तयतं | इन्द्रासोमौ | हथियार बनाना | जगती |
| ५ | अयं प्रतिसरोमणिर्वीरो | कृत्यादूषण आदि | हिंसा का नाश | उपरिष्टाद् बृहती आदि |
| ६ | यौ ते मातोन्ममार्ज | प्रजापति | गर्भ की रक्षा | अनुष्टुप् आदि |
| ७ | या बभ्रवो याश्च शुक्रा | ओषधि | रोग का विनाश | अनुष्टुप् आदि |
| ८ | इन्द्रो मन्थतु मन्थिता | इन्द्र आदि | शत्रु का नाश | निचृदनुष्टुप् आदि |
| ९ | कुतस्तौ जातौ कतमः | प्रजापति आदि | ब्रह्म विद्या | त्रिष्टुप् आदि |
| १०(१) | विराड् वा इदमग्र आसीत् | विराट् | ब्रह्म विद्या | आर्चीपङ्क्ति आदि |
| (२) | सोदक्रामत् सान्तरिक्षे | विराट् | ब्रह्म विद्या | साम्न्यनुष्टुप् आदि |
| (३) | सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् | विराट् | ब्रह्म विद्या | आर्ची पङ्क्ति आदि |
| (४) | सोदक्रामत्सासुरानागच्छत् | विराट् | ब्रह्म विद्या | साम्नी जगती आदि |
| (५) | सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् | विराट् | ब्रह्म विद्या | आच्युंष्णिक् आदि |
| (६) | तद्यस्मा एवं विदुषे | विराट | ब्रह्म विद्या | साम्नी बृहती आदि |

## २–अथर्ववेद, काण्ड ८ के मन्त्र अन्य वेदों में सपूर्ण वा कुछ भेद से॥

| मन्त्र संख्या | मन्त्र | अथर्ववेद, (काण्ड ८) सूक्त, मन्त्र | ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र | यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र | सामवेद, पूर्वार्चिक उत्तरार्चिकइत्यादि |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | आहार्षमविदं त्वा | १ । २० | १० । १६१ । ५ | | |
| २–२४ | रक्षोहणं वाजिनमा | ३ । १–२३ | १० । ८७ । १–२३ | | |
| २५ | वि ज्योतिषा बृहता | ३ । २४ | ५ । २ । ९ | | |
| २६ | अग्नी रक्षांसि सेधति | ३ । २६ | ७ । १५ । १० | | |
| २७-५१ | इन्द्रासोमा तपतं | ४ । १–२५ | ७ । १०४ । १–२५ | | |

॥ ओ३म् ॥

# अथर्ववेदः

## अष्टमं काण्डम् ॥

### प्रथमोऽनुवाकः ॥

#### सूक्तम् १ ॥

१—२१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; २, ३, १७—२१ अनुष्टुप्; ४, ६, १५, १६ प्रस्तारपङ्क्तिः; ५, ६, १०, ११ त्रिष्टुप्; ७ भुरिक् त्रिपदा त्रिष्टुप्; ८ विराट् पथ्या बृहती, १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती; १३ त्रिपदा भुरिङ् महाबृहती; १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥१॥

अन्तकाय । मृत्यवे । नमः । प्राणाः । अपानाः । इह । ते । रमन्ताम् ॥ इह । अयम् । अस्तु । पुरुषः । सह । असुना । सूर्यस्य । भागे । अमृतस्य । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अन्तकाय) मनोहर करने वाले [परमेश्वर] को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार है, [हे मनुष्य !] (ते) तेरे

१—(अन्तकाय) हसिमृग्रिण्वामिदमि०। उ० ३।८६। अम गत्यादिषु-तन्। अन्तो मनोहरः। तत्करोतीत्युपसंख्यानम्। वा० पा० ३। १। २६।

( प्राणाः ) प्राण और ( अपानाः ) अपान ( इह ) इस [ परमेश्वर ] में ( रमन्ताम् ) रमे रहें। ( इह ) इस [ जगत् ] में ( अयम् ) यह ( पुरुषः ) पुरुष ( असुना सह ) बुद्धि के साथ ( सूर्यस्य ) सब के चलाने वाले सूर्य [ अर्थात् परमेश्वर ] के ( भागे ) ऐश्वर्य समूह के बीच ( अमृतस्य लोके ) अमर लोक [ मोक्षपद ] में ( अस्तु ) रहे ॥ १ ॥

**भावार्थ**—जो मनुष्य अपने आत्मा को परमात्मा के गुणों में निरन्तर लगाते हैं, वे सर्वथा उन्नति करते हैं ॥ १ ॥

सूर्य परमेश्वर का नाम है—यजु० ७। ४२। ( सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ) सूर्य चेतन और जड़ का आत्मा है ॥

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अं॒शुमा॑न् ।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

उत् । ए॒न॒म् । भगः॑ । अ॒ग्र॒भी॒त् । उत् । ए॒न॒म् । सोमः॑ । अं॒शु-मा॑न् ॥
उत् । ए॒न॒म् । म॒रुतः॑ । दे॒वाः । उत् । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । स्व॒स्तये॑ ॥२॥

**भाषार्थ**—( भगः ) सेवनीय सूर्य ने ( एनम् ) इसे ( उत् ) ऊपर को, ( अंशुमान् ) अच्छी किरणों वाले ( सोमः ) चन्द्रमा ने ( एनम् ) इसे ( उत् )

---

इति अन्त—णिच्—ण्वुल्। अन्तं करोति, अन्तयतीति अन्तकः। तस्मै मनोहरकर्त्रे परमेश्वराय ( मृत्यवे ) अ० ५। ३०। १२। मृत्युं नाशयितुम् ( प्राणाः ) वहिर्मुखसंचारिणो वायवः ( अपानाः ) अवाङ्मुखसंचारिणो वायवः ( इह ) अस्मिन् परमात्मनि ( ते ) तव ( रमन्ताम् ) क्रीडन्तु ( इह ) अस्मिन् जगति ( अयम् ) निर्दिष्टः ( अस्तु ) भवतु ( पुरुषः ) मनुष्यः ( सह ) ( असुना ) प्रज्ञया—निघ० ३। ६। ( सूर्यस्य ) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च—यजु० ७। ४२। इति प्रमाणम् ( भागे ) भग—अण्। ऐश्वर्याणां समूहे ( अमृतस्य ) मोक्षस्य ( लोके ) स्थाने ॥

२—( उत् ) ऊर्ध्वम् ( एनम् ) पुरुषम् ( भगः ) सेवनीयः सूर्यः ( अग्रभीत् ) अग्रहीत्। धृतवान् ( उत् ) ( एनम् ) ( सोमः ) चन्द्रः ( अंशुमान् ) प्रशस्तकिरणयुक्तः ( उत् ) ( एनम् ) ( मरुतः ) अ० १। २०। १। वायुगणाः

ऊपर को ( अग्रभीत् ) ग्रहण किया है। ( देवाः ) दिव्य ( मरुतः ) वायुगणों ने ( एनम् ) इसे ( उत् ) ऊपर को, ( इन्द्राग्नी ) बिजुली और [ भौतिक ] अग्नि ने ( स्वस्तये ) अच्छी सत्ता के लिये ( उत् ) ऊपर को [ ग्रहण किया है ] ॥ २ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानी पुरुष सूर्य आदि संसार के सब पदार्थों से उपकार लेते हैं, वे कल्याण भोगते हैं ॥ २ ॥

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याःपाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥३॥

इह । ते । असुः । इह । प्राणः । इह । आयुः । इह । ते । मनः ॥ उत् । त्वा । निःऽऋत्याः । पाशेभ्यः । दैव्या । वाचा । भरामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( इह ) इस [ परमेश्वर ] में ( ते ) तेरी ( असुः ) बुद्धि, ( इह ) इस में ( प्राणः ) प्राण, ( इह ) इसमें ( आयुः ) जीवन, ( इह ) इसमें ( ते ) तेरा ( मनः ) मन [ हो ] । ( त्वा ) तुझको ( निर्ऋत्याः ) महा विपत्ति [ अविद्या ] के ( पाशेभ्यः ) जालों से ( दैव्या ) दैवी ( वाचा ) वाणी [ वेद विद्या ] के साथ ( उत् ) ऊपर ( भरामसि ) हम धरते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा पालन में सब इन्द्रियों सहित आत्मसमर्पण करें, यही विपत्तियों से बचने के लिये वेद का उपदेश है ॥ ३ ॥

उत् क्रामातःपुरुषमावपत्था मृत्योःपड्वीशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥

---

( देवाः ) प्रशस्तगुणाः ( उत् ) ( इन्द्राग्नी ) विद्युत्पावकौ ( स्वस्तये ) अ० १ । ३० । २ । सु+अस सत्तायाम्—ति । सुसत्तायै ॥

३—( इह ) अस्मिन् परमेश्वरे ( ते ) तव ( असुः ) प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ ( इह ) ( प्राणः ) जीवनसाधनं वायुः ( इह ) ( आयुः ) जीवनम् ( इह ) ( ते ) ( मनः ) अन्तःकरणम् ( उत् ) ऊर्ध्वम् ( त्वा ) ( निर्ऋत्याः ) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तेः । अविद्यायाः ( पाशेभ्यः ) जालेभ्यः ( दैव्या ) देव-अञ्, ङीप् । देवात् परमेश्वरात् प्राप्तया ( वाचा ) वाण्या ( भरामसि ) धरामः ॥

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः । पड्वीशम् । अव-मुञ्चमानः ॥ मा । छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्-दृशः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( पुरुष ) हे पुरुष ! ( अतः ) इस [ वर्तमान दशा ] से ( उत् क्राम ) आगे डग वढ़ा, ( मृत्योः ) मृत्यु [ अज्ञान, निर्धनता आदि ] की ( पड्वीशम् ) वेड़ी को ( अवमुञ्चमानः ) छोड़ता हुआ ( मा अव पत्थाः ) मत नीचे गिर । ( अस्मात् लोकात् ) इस लोक [ वर्तमान अवस्था ] से, ( अग्नेः ) अग्नि [ शरीर और आत्मवल ] से, और ( सूर्यस्य ) सूर्य के ( संदृशः ) दर्शन [नियम] से ( मा च्छित्थाः ) मत अलग हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी वर्तमान दशा से आगे वढ़ने के लिये नित्य पुरुषार्थ करे ॥ ४ ॥

**तुभ्यं वातः पवतां मातुरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः । सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥ ५ ॥**

तुभ्यम् । वातः । पवताम् । मातरिश्वा । तुभ्यम् । वर्षन्तु । अमृतानि । आपः ॥ सूर्यः । ते । तन्वे । शम् । तपाति । त्वाम् । मृत्युः । दयताम् । मा । प्र । मेष्ठाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( तुभ्यम् ) तेरे लिये ( मातरिश्वा ) अन्तरिक्ष में चलने वाला

४—( उत् ) ऊर्ध्वम् ( क्राम ) क्रमु पादविक्षेपे । पादं विक्षिप ( अतः ) वर्तमानाया दशायाः ( पुरुष ) मनुष्य ( मा अव पत्थाः ) पद गतौ-लुङ् । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इट्प्रतिषेधः । झलो झलि । पा० ८ । २ । २६ । सिचो लोपः । अवपतनं मा कार्षीः ( मृत्योः ) अज्ञाननिर्धनतादिदुःखस्य ( पड्वीशम् ) अ० ६ । ९६ । २ । पाशप्रवेशम् ( अवमुञ्चमानः ) विमोचयन् ( मा च्छित्थाः ) छिदेर्लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः । छिन्नो मा भूः ( अस्मात् ) ( लोकात् ) अवस्थायाः ( अग्नेः ) शरीरात्मवलादित्यर्थः ( सूर्यस्य ) आदित्यस्य ( संदृशः ) दृशेः क्विप् । संदर्शनात् ॥

५—( तुभ्यम् ) त्वदर्थम् (वातः) वायुः ( पवताम् ) शुद्धयतु (मातरिश्वा)

( वातः ) वायु ( पवताम् ) शुद्ध हो, ( तुभ्यम् ) तेरे लिये ( आपः ) जल धारायें ( अमृतानि ) अमृतवस्तुयें ( वर्षन्तु ) बरसावें। ( सूर्यः ) सूर्य ( ते ) तेरे ( तन्वे ) शरीर के लिये ( शम् ) शान्ति से ( तपाति ) तपे, ( मृत्युः ) मृत्यु ( त्वाम् ) तुझ पर ( दयताम् ) दया करे, ( मा प्र मेष्ठाः ) तू मत दुःखी होवे ॥५॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य को वायु आदि पदार्थ सुखदायी होते हैं, और वह क्लेशों में नहीं पड़ता ॥ ५ ॥

**उद्यानं ते पुरुष नाव॒यानं॑ जी॒वातुं॑ ते॒ दक्ष॑तातिं कृणोमि ।**
**आ हि रोहे॒मम॒मृतं॑ सु॒खं रथ॒मथ॒ जिर्वि॒र्वि॒दथ॒मा व॑दासि ॥६**

उत्-यानम् । ते॒ । पु॒रु॒ष॒ । न । अव॒-यानम् । जी॒वातु॑म् । ते॒ । दक्ष॑-तातिम् । कृ॒णो॒मि॒ ॥ आ । हि । रोह॑ । इ॒मम् । अ॒-मृत॑म् । सु॒-खम् । रथ॑म् । अथ॑ । जिर्विः॑ । वि॒दथ॑म् । आ । व॒दा॒सि॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( पुरुष ) हे पुरुष ! ( ते ) तेरा ( उद्यानम् ) चढ़ाव [होवे], ( न ) न ( अवयानम् ) गिराव, ( ते ) तेरे लिये ( जीवातुम् ) जीविका और ( दक्षतातिम् ) बल [ योग्यता ] ( कृणोमि ) मैं करता हूं। ( हि ) अवश्य ( इमम् ) इस

---

अ० ५ । १० । ८ । अन्तरिक्षसंचारी ( तुभ्यम् ) ( वर्षन्तु ) सिञ्चन्तु ( अमृतानि ) मृत्युनिवारकाणि वस्तूनि ( आपः ) जलधाराः ( सूर्यः ) ( ते ) तव ( तन्वे ) शरीराय ( शम् ) सुखम् ( तपाति ) लेटि, आडागमः ( त्वाम् ) ( मृत्युः ) ( दयताम् ) दय रक्षणे । पालयतु ( मा प्र मेष्ठाः ) मीङ् हिंसायाम्—लुङ् । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इट्प्रतिषेधः । हिंसितो दुःखितो मा भूः ॥

६—( उद्यानम् ) ऊर्ध्वगमनम् ( ते ) तव ( पुरुषः ) ( न ) निषेधे ( अवयानम् ) अधः पतनम् ( जीवातुम् ) अ० ६ । ५ । २ । जीविकम्—निरु० ११ । ११ । ( ते ) तव ( दक्षतातिम् ) सर्वदेवात्तातिल् । पा० ४ । ४ । १४२ बाहुलकात्, दक्षादपि तातिल् स्वार्थे । दक्षं बलं योग्यताम् ( कृणोमि ) करोमि ( आ रोह ) अधितिष्ठ ( हि ) अवश्यम् ( इमम् ) पूर्वोक्तम् ( अमृतम् ) सनातनम् ( सुखम् ) सुखप्रदम्

( अमृतम् ) अमर [ सनातन ], ( सुखम् ) सुखदायक ( रथम् ) रथ पर ( आ रोह ) चढ़ जा [ उपदेश मान ], ( अथ ) फिर ( जिर्विः ) स्तुति योग्य [होकर] तू ( विदथम् ) विचार समाज में ( आ वदासि ) भाषण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वराज्ञा और गुरु शिक्षा से विघ्नों को हटाकर आगे बढ़ते हैं, वे संसार में स्तुति पाकर सभाओं के अधिष्ठाता होते हैं ॥ ६ ॥

**मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥७॥**

**मा। ते। मनः। तत्र। गात्। मा। तिरः। भूत्। मा। जीवेभ्यः। प्र। मदः। मो। अनु। गाः। पितॄन् ॥ विश्वे। देवाः। अभि। रक्षन्तु। त्वा। इह ॥ ७ ॥**

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरा ( मनः ) मन ( तत्र ) वहां [ अधर्म में] ( मा गात् ) न जावे, और ( मा तिरो भूत् ) लुप्त न होवे, (जीवेभ्यः ) जीवों के लिये ( मा प्र मदः ) भूल मत कर, ( पितॄन् अनु ) पितरों [ माननीय माता पिता आदि विद्वानों ] से न्यून होकर ( मा गाः ) मत चल । ( विश्वे ) सब ( देवाः ) इन्द्रियां ( इह ) इस [ शरीर ] में ( त्वा ) तेरी ( अभि ) सब ओर से ( रक्षन्तु ) रक्षा करें ॥ ७ ॥

---

( रथम् ) यानम् । उपदेशमित्यर्थः ( अथ ) अनन्तरम् (जिर्विः) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् । उ० ४ । ५४ । जॄ स्तुतौ—क्विन्, छान्दसो ह्रस्वः । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जीर्विः । स्तुत्यः (विदथम्) अ० १ । १३ । ४ । विद विचारणे—अथ, ङित् । विचारसमाजम् । यज्ञम्—निघ० ३ । १७ ( आ वदासि ) लेटि रूपम् । व्यक्तं भाषय ॥

७—( ते ) तव ( मनः ) ( तत्र ) तस्मिन् कुकर्मणि ( मा गात् ) मा गच्छेत् ( मा तिरो भूत् ) अन्तर्हितं विलीनं न भवेत् ( जीवेभ्यः ) प्राणिनामर्थाय ( मा प्र मदः ) प्रपूर्वो मदिरनवधाने—लुङ्, पुषादित्वादङ् । प्रमादं मा कुरु (पितॄन् अनु) हीने च । पा० १ । ४ । ८६ । इत्यनुर्हीने कर्मप्रवचनीयः । पितृभ्यो मातापित्रादि-विद्वद्भ्यो न्यूनः सन् ( मा गाः ) गमनं मा कुरु ( विश्वे ) सर्वे (देवाः) इन्द्रियाणि ( अभि ) सर्वतः ( रक्षन्तु ) ( त्वा ) त्वाम् ( इह ) अस्मिन् शरीरे ॥

भावार्थ—मनुष्य अधर्म छोड़ कर सावधानी से सब प्राणियों पर उपकार करें, और माननीय पुरुषों से हेटे न रहकर जितेन्द्रिय और प्रबलेन्द्रिय रहें ॥ ७ ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

मा। गतानाम्। आ। दीधीथाः। ये। नयन्ति। परा-वतम्॥ आ। रोह। तमसः। ज्योतिः। आ। इहि। आ। ते। हस्तौ। रभामहे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( गतानाम् ) [उन] गये हुये [ कुमार्गियों ] का ( आ ) कुछ भी ( मा दीधीथाः ) मत प्रकाश कर, (ये) जो [मनुष्य को धर्म से] ( परावतम् ) दूर ( नयति ) ले जाते हैं। ( तमसः ) अन्धकार में से ( आ रोह ) ऊपर चढ़, ( ज्योतिः ) प्रकाश में ( आ इहि ) आ, ( ते ) तेरे ( हस्तौ ) दोनों हाथों को ( आ रभामहे ) हम पकड़ते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ-मनुष्य कुमार्गियों के मत में न फंस कर परस्पर ज्ञान बढ़ाकर उन्नति करें ॥ ८ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

श्यामः। च। त्वा। मा। शबलः। च। प्र-इषितौ। यमस्य। यौ। पथिरक्षी इति पथि-रक्षी। श्वानौ ॥ अर्वाङ्। आ।

८—( गतानाम् ) कुमार्गं प्राप्तानाम् ( आ ) ईषदर्थे ( मा दीधीथाः ) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—लुङ्, छान्दसः सिचो लुक्। प्रकाशं मा कुरु ( ये ) कुमार्गिणः ( नयन्ति ) गमयन्ति। मनुष्यं सत्यादिति शेषः ( परावतम् ) दूरदेशम् ( आ रोह ) अधितिष्ठ ( तमसः ) अन्धकारमध्यात् (ज्योतिः) प्रकाशम् ( एहि ) आगच्छ ( ते ) तव ( हस्तौ ) ( आ रभामहे ) लस्य रः। आलभामहे। गृह्णीमः ॥

इ॒हि॒ । मा । वि । दी॒ध्यः॒ । मा । अत्र॑ । ति॒ष्ठः॒ । परा॑क्-मनाः ॥९॥

**भाषार्थ**—( श्यामः ) चलने वाला [ प्राणवायु ] ( च च ) और ( शबलः ) जाने वाला [ अपान वायु ] ( त्वा ) तुझको ( मा ) न [ छोड़ें ], ( यौ ) जो दोनों [ प्राण और अपान ] ( यमस्य ) नियन्ता मनुष्य के ( प्रेषितौ ) भेजे हुये, ( पथिरक्षी ) मार्गरक्षक ( श्वानौ ) दो कुत्तों [ के समान हैं ]। ( अर्वाङ् ) समीप ( आ इहि ) आ, ( मा वि दीध्यः ) विरुद्ध मत क्रीड़ा कर, ( इह ) यहां पर ( पराङ्मनाः ) उदास मन होकर ( मा तिष्ठः ) मत ठहर ॥९॥

**भावार्थ**—मन्त्र के प्रथम पाद में [ छोड़ें ] पद अध्याहार है। मनुष्य प्राण, और अपान द्वारा बल पराक्रम स्थिर रखकर कभी दीन न होवें। प्राण और अपान शरीर की इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे कुत्ते मार्ग में अपने स्वामी की ॥

यजुर्वेद ३४। ५५ में वर्णन है—"तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ) वहां पर दो न सोने वाले और बैठक [ शरीर ] में बैठने वाले, चलने फिरने वाले [ प्राण और अपान ] जागते हैं" ॥

मैतं पन्था॒मनु॑ गा भी॒म ए॒ष येन॒ पूर्वं॒ नेय॑थ॒ तं ब्र॑वीमि।
तम॑ ए॒तत् पु॑रुष॒ मा प्र प॑त्था भ॒यं प॒रस्ता॒दभ॑यं ते अ॒र्वाक् ॥ १० ॥ ( १ )

---

९—( श्यामः ) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्। उ० १। १४५। श्यैङ् गतौ-मक्। गमनशीलः प्राणवायुः ( च ) ( त्वा ) ( मा ) निषेधे। त्यजता-मिति शेषः ( शबलः ) शपेर्वश्च। उ० १। १०५। शव गतौ-कल, वस्य वः। गति-मान्। अपानवायुः ( च ) ( प्रेषितौ ) प्रेरितौ। नियोजितौ ( यमस्य ) नियामक-मनुष्यस्य ( यौ ) प्राणापानौ ( पथिरक्षी ) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। पथिन्+रक्ष पालने—इन्। मार्गरक्षकौ ( श्वानौ ) श्वन्नु-क्षन्पूषन्०। उ० १। १५६। टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्। कुक्कुरौ यथा ( अर्वाङ् ) अ० ३। २। ३। अभिमुखः। समीपस्थः ( एहि ) आगच्छ ( वि ) विरुद्धम् ( मा दीध्यः ) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—लेट्, अडागमः, परस्मैपदं छान्दसम्। देवनं क्रीडनं मा कार्षीः ( अत्र ) संसारे ( मा तिष्ठः ) गतिं निवृत्य मा वर्तस्व ( पराङ्मनाः ) उन्मनाः ॥

मा । एतम् । पन्थाम् । अनु । गाः । भीमः । एषः । येन । पूर्वम् । न । इयथ । तम् । ब्रवीमि ॥ तमः । एतत् । पुरुष । मा । प्र । पत्थाः । भयम् । परस्तात् । अभयम् । ते । अर्वाक् १०(१)

भाषार्थ—( एतम् ) इस ( पन्थाम् ) पथ [ अधर्मपथ ] पर ( मा अनु गाः ) मत कभी चल, ( एषः ) यह ( भीमः ) भयानक है, ( येन ) जिस [मार्ग] से ( पूर्वम् ) पहिले ( न इयथ ) तू नहीं गया है, ( तम् ) उसी [ मार्ग ] को ( ब्रवीमि ) मैं कहता हूं। ( पुरुष ) हे पुरुष ! ( एतत् ) इस ( तमः ) अन्धकार में ( प्र ) आगे ( मा पत्थाः ) मत पद रख ( परस्तात् ) दूरस्थान [ कुपथ] में ( भयम् ) भय है, ( अर्वाक् ) इस ओर [ धर्मपथ में ] ( ते ) तेरे लिये ( अभयम् ) अभय है ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वानों के निश्चय से मनुष्यों को अधर्म छोड़कर धर्म पर चलना आनन्द दायक है ॥ १० ॥

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते । वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥ ११ ॥

रक्षन्तु । त्वा । अग्नयः । ये । अप्-सु । अन्तः । रक्षतु । त्वा । मनुष्याः । यम् । इन्धते ॥ वैश्वानरः । रक्षतु । जात-वेदाः । दिव्यः । त्वा । मा । प्र । धाक् । वि-द्युता । सह ॥ ११ ॥

---

१०—( एतम् ) प्रसिद्धम् ( पन्थाम् ) पन्थानम् । कुमार्गमित्यर्थः ( अनु ) निरन्तरम् ( मा गाः ) मा याहि ( भीमः ) भयानकः ( एषः ) कुमार्गः ( येन ) ( पूर्वम् ) अग्रे ( न ) निषेधे ( इयथ ) इण् गतौ-लिट्, छान्दसं रूपम् । इयेथ । गतवानसि ( तम् ) कुमार्गम् ( ब्रवीमि ) कथयामि ( तमः ) अन्धकारम् ( एतत् ) ( पुरुष ) ( प्र ) अग्रे ( मा पत्थाः )-म० ४ । पदनं गमनं मा कार्षीः ( भयम् ) ( परस्तात् ) परस्मिन् दूरदेशे, कुमार्गे इत्यर्थः ( अभयम् ) कुशलम् ( ते ) तुभ्यम् ( अर्वाक् ) अभिमुखम् । समीपम् ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( अप्सु अन्तः ) जलों के भीतर ( ये ) जो ( अग्नयः ) अग्नियां हैं, वे ( त्वा ) तेरी ( रक्षन्तु ) रक्षा करें, (यम्) जिसको ( मनुष्याः ) मनुष्य [ यज्ञ आदि में ] ( इन्धते ) जलाते हैं, वह [ अग्नि ] (त्वा ] तेरी ( रक्षतु ) रक्षा करे। ( वैश्वानरः ) सब नरों में वर्तमान, ( जातवेदाः ) धन वा ज्ञान उत्पन्न करने वाला [जाठराग्नि तेरी] ( रक्षतु ) रक्षा करे, (दिव्यः) आकाश में रहने वाला [ सूर्य ] ( विद्युता सह ) बिजुली के साथ ( त्वा ) तुझ को ( मा प्र धाक् ) न जला डाले ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार के अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेकर शरीर रक्षा करें ॥ ११ ॥

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर। रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च। अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

मा। त्वा। क्रव्य-अत्। अभि। मंस्त। आरात्। सम्-कसुकात्। चर ॥ रक्षतु। त्वा। द्यौः। रक्षतु। पृथिवी। सूर्यः। च। त्वा। रक्षताम्। चन्द्रमाः। च ॥ अन्तरिक्षम्। रक्षतु। देव-हेत्याः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( त्वा ) तुझ को ( क्रव्यात् ) मांस भक्षक

११—( रक्षन्तु ) ( त्वा ) ( अग्नयः ) ( ये ) ( अप्सु ) उदकेषु ( अन्तः ) मध्ये ( रक्षतु ) पालयतु ( अन्ता रक्षतु ) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। पा० ६। ३ १११। इति दीर्घः ( त्वा ) ( मनुष्याः ) ( यम् ) अग्निम् ( इन्धते ) अन्तर्गत-ण्यर्थः। दीपयन्ति यज्ञादिषु ( वैश्वानरः ) सर्वनरेषु वर्तमानो जाठराग्निः ( रक्षतु ) ( जातवेदाः ) जातधनः। जातज्ञानः ( दिव्यः ) दिवि आकाशे भवः सूर्यः ( त्वा) ( प्र ) प्रकर्षेण ( मा धाक् ) दह भस्मीकरणे-लुङ्। मन्त्रे घसह्वर०। पा० २। ४। ८०। च्लेर्लुक्। मा दहतु ॥

१२—( त्वा ) त्वाम् ( क्रव्यात् ) अ० २। २५। ५। मांसभक्षकः पशुरोगादिः

[ पशु, रोग, आदि ] ( मा अभि मंस्त ) न किसी प्रकार मारे ( संकसुकात् ) नाश करने वाले [ विघ्न ] से ( आरात् ) दूर दूर ( चर ) चल। ( द्यौः ) प्रकाशमान ईश्वर ( त्वा ) तेरी ( रक्षतु ) रक्षा करे, ( पृथिवी ) पृथिवी ( रक्षतु ) रक्षा करे, ( सूर्यः ) सूर्य ( च च ) और ( चन्द्रमाः ) चन्द्रमा दोनों ( त्वा ) तेरी ( रक्षताम् ) रक्षा करें। ( अन्तरिक्षम् ) मध्य लोक [ तुझको ] ( देवहेत्याः ) इन्द्रियों की चोट से ( रक्षतु ) बचावे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विघ्नों से बचकर सब पदार्थों का यथावत् उपयोग करते और इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे सुखी रहते हैं ॥ १२ ॥

**बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥१३॥**

**बोधः। च। त्वा। प्रति-बोधः। च। रक्षताम्। अस्वप्नः। च। त्वा। अनव-द्राणः। च। रक्षताम्॥ गोपायन्। च। त्वा। जागृविः। च। रक्षताम् ॥ १३ ॥**

भाषार्थ—( बोधः ) बोध [ विवेक ] ( च ) और ( प्रतीबोधः ) प्रतिबोध [ चेतनता ] ( च ) निश्चय करके ( त्वा ) तेरी ( रक्षताम् ) रक्षा करें, ( अस्वप्नः ) न सोने वाले ( च ) और ( अनवद्राणः ) न भागने वाले [दोनों] ( त्वा ) तेरी ( च ) निश्चय करके ( रक्षताम् ) रक्षा करें। ( गोपायन् ) चौ-

---

( अभि ) सर्वतः ( मा मंस्त ) मन ज्ञाने वधे च-लुङ्। मा वधीत्। मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १०। २९। ( आरात् ) दूरम् ( संकसुकात् ) अ० ५। ३१। ९। कस नाशने-ऊक, ह्रस्वः। नाशकात्। विघ्नात् ( चर ) गच्छ ( द्यौः ) प्रकाशमानः परमेश्वरः ( अन्तरिक्षम् ) मध्यलोकः ( देवहेत्याः ) ऊतियूतिजूति०। पा० ३। ३। ९७। हन गतौ वधे च-क्तिन्। इन्द्रियाणां हननात्। अन्यत् सुगमम् ॥

१३—( बोधः ) विवेकः ( च ) समुच्चये ( त्वा ) त्वाम् ( प्रतीबोधः ) चेतना ( च ) निश्चयेन ( रक्षताम् ) पालयताम् ( अस्वप्नः ) अनिद्रः ( च ) ( त्वा ) ( अनवद्राणः ) द्रा स्वप्ने पलायने च—क्त। संयोगादेर्धातोर्यण्वतः।

कसी करने वाले ( च ) और ( जागृविः ) जागने वाले [ दोनों ] ( च ) अवश्य ( त्वा ) तुझको ( रक्षताम् ) बचावें ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विवेक और चेतना पूर्वक सावधान रहकर रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो-अ० ५ । ३० । १० ॥

**ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥१४**

ते । त्वा । रक्षन्तु । ते । त्वा । गोपायन्तु । तेभ्यः । नमः । तेभ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( ते ) वे सब ( त्वा ) तेरी ( रक्षन्तु ) रक्षा करें, ( ते ) वे सब ( त्वा ) तेरी (गोपायन्तु )चौकसी करें, ( तेभ्यः ) उनके लिये ( नमः ) नमस्कार है, ( तेभ्यः ) उनके लिये ( स्वाहा ) सुन्दरवाणी है ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा से अग्नि, पृथिवी, आदि पदार्थों से [ मन्त्र ११,—१३ ] यथावत् उपकार लेकर रक्षा में प्रवृत्त रहें ॥१४॥

**जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः । मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि ॥१५॥**

जीवेभ्यः । त्वा । सम्-उदे । वायुः । इन्द्रः । धाता । दधातु । सविता । त्रायमाणः ॥ मा । त्वा । प्राणः । बलम् । हासीत् । असुम् । ते । अनु । ह्वयामसि ॥ १५ ॥

---

पा० ८ । २ । ४३ । तस्य न । पलायमानः ( गोपायन् ) गोपायिता ( जागृविः ) अ० ५ । ३० । १० । जागरूकः । अन्यत्सुगमम् ॥

१४-( ते )-म० ११-१३ । अग्निपृथिव्यादिपदार्थाः ( रक्षन्तु ) पालयन्तु ( त्वा ) त्वाम् ( गोपायन्तु ) सर्वतो रक्षन्तु ( नमः ) सत्कारः ( स्वाहा ) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । स्तुतिः । अन्यत्सुगमम् ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( त्वा ) तुझको ( जीवेभ्यः ) जीवों के लिये ( समुदे ) पूरा उत्तमपन [ करने ] के लिये ( वायुः ) वायु, ( इन्द्रः ) मेघ और ( धाता ) पोषण करने वाला, ( त्रायमाणः ) पालन करने वाला ( सविता ) चलाने वाला सूर्य ( दधातु ) पुष्ट करे। ( त्वा ) तुझको ( प्राणः ) प्राण और ( बलम् ) बल ( मा हासीत् ) न छोड़े, ( ते ) तेरे लिये ( असुम् ) बुद्धि को ( अनु ) सदा ( ह्वयामसि ) हम बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि पदार्थों के यथावत् प्रयोगसे निरन्तर बुद्धि बढ़ावें ॥ १५ ॥

**मा त्वा जुम्भः संहनुर्मा तमो विदुन्मा जिह्वा बुर्हिः प्रमुयुः कुथा स्याः। उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वुस्तये ॥ १६ ॥**

मा। त्वा। जुम्भः। सम्-हनुः। मा। तमः। विदुत्। मा। जिह्वा। आ। बुर्हिः। प्र-मुयुः। कुथा। स्याः॥ उत्। त्वा। आदित्याः। वसवः। भरन्तु। उत्। इन्द्राग्नी इति। स्वुस्तये॥१६॥

भाषार्थ—( मा ) न तो ( जम्भः ) नाश करने वाला ( संहनुः ) विघ्न, ( मा ) न ( तमः ) अन्धकार, ( आ ) और ( मा ) न ( बर्हिः ) सताने वाली ( जिह्वा ) जीभ ( त्वा ) तुझको ( विदत् ) पावे, ( कथा ) किस प्रकार से

१५—( जीवेभ्यः ) जीवानां हिताय ( त्वा ) ( समुदे ) उङ् शब्दे-क्विप, तुक् च, पृषोदरादित्वाद् दत्वम्। सम्यगुत्कर्षाय ( वायुः ) ( इन्द्रः ) मेघः ( धाता ) पोषकः ( दधातु ) पोषयतु ( त्वा ) ( प्राणः ) आत्मबलम् ( बलम् ) शरीरबलम् ( मा हासीत् ) ओ हाक् त्यागे—लुङ्। मा त्याक्षीत् ( असुम् ) प्रज्ञाम् ( ते ) तुभ्यम् ( अनु ) निरन्तरम् ( ह्वयामसि ) आह्वयामः ॥

१६—( मा ) निषेधे ( त्वा ) त्वाम् ( जम्भः ) जभि नाशने—अच्। नाशकः ( संहनुः ) शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनि०। उ० १। १०। हन हिंसागत्योः—उ। विघ्नः। मृत्युः ( मा ) ( तमः ) अन्धकारः ( विदत् ) विद्लृ लाभे—लुङ्। लभताम् ( मा ) ( जिह्वा ) रसना ( आ ) समुच्चये ( बर्हिः ) बृंहेर्नलोपश्च। उ० २। १०९।

( प्रमयुः ) तू गिर जाने वाला ( स्याः ) होवे । ( त्वा ) तुझको ( आदित्याः ) प्रकाशमान विद्वान् लोग और ( वसवः ) श्रेष्ठ पदार्थ ( उत् ) ऊपर ( भरन्तु ) ले चलें और ( इन्द्राग्नी ) मेघ और अग्नि ( स्वस्तये ) सुन्दर सत्ता के लिये ( उत् ) ऊपर [ ले चलें ] ॥ १६ ॥

**भावार्थ**—जो मनुष्य सब विघ्नों और अपवादों से बचकर विद्वानों और उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से उन्नति करते हैं, वे अपने जीवन में सुख भोगते हैं ॥ १६ ॥

**उत् त्वा द्यौरुत् पृ॑थिव्युत् प्रजाप॑तिरग्रभीत् ।**
**उत् त्वा मृत्योरोष॑धयः सोम॑राज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥**

**उत् । त्वा । द्यौः । उत् । पृथिवी । उत् । प्रजा-प॑तिः । अग्रभीत् ॥ उत् । त्वा । मृत्योः । ओष॑धयः । सोम॑-राज्ञीः । अपीपरन् ॥ १७ ॥**

**भाषार्थ**—( त्वा ) तुझको ( द्यौः ) सूर्य ने ( उत् ) ऊपर को, (पृथिवी) पृथिवी ने ( उत् ) ऊपर को और ( प्रजापतिः ) प्रजापालक परमेश्वर ने (उत्) ऊपर को ( अग्रभीत् ) ग्रहण किया है । ( त्वा ) तुझको ( सोमराज्ञीः ) सोम [ अमृत वा चन्द्रमा ] को राजा रखनेवाली ( ओषधयः ) ओषधियों ने ( मृत्योः ) मृत्यु से [ अलग कर ] ( उत् ) भली भांति ( अपीपरन् ) पाला है ॥ १७ ॥

**भावार्थ**—मनुष्य परमेश्वर, सूर्य और पृथिवी के नियमों को विचार कर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके प्रसन्न रहें ॥ १७ ॥

---

यहं हिंसायाम्—इसि । हिंसास्वभावा ( प्रमयुः ) भूमृशीङ्० । उ० १ । ७ । डुमिञ् प्रक्षेपणे—उ । प्रक्षिप्तः ( कथा ) केन प्रकारेण ( स्याः ) त्वं भवेः ( उत् ) ऊर्ध्वम् ( त्वा ) ( आदित्याः ) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमाना विद्वांसः ( वसवः ) श्रेष्ठपदार्थाः ( भरन्तु ) धारयन्तु ( उत् ) ( इन्द्राग्नी ) मेघपावकौ ( स्वस्तये ) सुसत्तायै ॥

१७—( उत् ) ऊर्ध्वम् ( त्वा ) त्वाम् ( द्यौः ) प्रकाशमानः सूर्यः ( पृथिवी ) ( प्रजापतिः ) प्रजापालको जगदीश्वरः ( अग्रभीत् ) गृहीतवान् ( मृत्योः ) मृत्युरूपदुःखात् ( ओषधयः ) अन्नादिपदार्थाः ( सोमराज्ञीः ) सोमोऽमृतं चन्द्रो वा राजा यासां ताः ( अपीपरन् ) पॄ पालनपूरणयोः—लुङ् । अपालयन् ॥

अ॒यं दे॑वा इ॒हैवास्त्व॒यं मामुत्र॑ गादि॒तः ।
इ॒मं स॒हस्र॑वीर्येण मृ॒त्योरुत् पा॑रयामसि ॥ १८ ॥
अ॒यम् । दे॒वाः । इ॒ह । ए॒व । अ॒स्तु॒ । अ॒यम् । मा । अ॒मुत्र॑ ।
गा॒त् । इ॒तः ॥ इ॒मम् । स॒हस्र॑-वीर्येण । मृ॒त्योः । उत् । पा॒र॒-
या॒म॒सि॒ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजय चाहने वाले पुरुषो ! (अयम्) यह [शूर पुरुष] (इह) यहां [धर्मात्माओं में] (एव) ही (अस्तु) रहे, (अयम्) यह (अमुत्र) वहां [दुष्टों में] (इतः) यहां से [सत्समाज से] (मा गात्) न जावे । (इमम्) इस [पुरुष] को (सहस्रवीर्येण) सहस्रों प्रकार के सामर्थ्य के साथ (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले प्रकार (पारयामसि) हम पार लगाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य एक दूसरे को दुष्कर्मों से बचाकर धर्म में प्रवृत्त कर विज्ञान शिल्प आदि द्वारा अनेक प्रकार बल बढ़ाकर मृत्यु अर्थात् दरिद्रता आदि दुःखों से सुरक्षित रहें ॥ १८ ॥

उत् त्वा॑ मृ॒त्योर॑पीपर॒ सं ध॑मन्तु वयो॒धसः॑ ।
मा त्वा॑ व्यस्तके॒श्यो॒ ३॒ मा त्वा॑घ॒रुदो॑ रुदन् ॥ १९ ॥
उत् । त्वा॒ । मृ॒त्योः । अ॒पी॒प॒र॒म् । सम् । ध॒म॒न्तु॒ । व॒यः॒-धस॑ ॥
मा । त्वा॒ । व्य॒स्त॒-के॒श्यः॑ । मा । त्वा॒ । अ॒घ॒-रुदः॑ । रु॒द॒न् ॥१९॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले

१८—(अयम्) शूरपुरुषः (देवाः) हे विजिगीषवः (इह) धर्मात्मसु (एव) निश्चयेन (अस्तु) भवतु (मा गात्) न गच्छेत् (अमुत्र) तत्र । दुष्टेषु (इतः) अमरलोकात् । सत्समाजात् (इमम्) सत्पुरुषम् (सहस्रवीर्येण) अपरिमितसामर्थ्येन (मृत्योः) दरिद्रतादिदुःखात् (उत्) उत्कर्षेण (पारयामसि) पार कर्मसमाप्तौ । यद्वा, पॄ पालनपूरणयोः । पारयामः । तारयामः । पालयामः ॥

१९—(उत्) उत्कर्षेण (त्वा) त्वाम् (मृत्योः) दरिद्रतादिक्लेशात् (अपी-

प्रकार ( अपीपरम् ) मैं ने बचाया है। ( वयोधसः ) जीवन धारण करने वाले पदार्थ ( सम् ) ठीक ठीक ( धमन्तु ) मिलें। ( त्वा ) तुझको ( मा ) न तो ( व्यस्तकेश्यः ) प्रकाश गिरा देने वाली [ विपत्तियां ], और ( मा ) न ( त्वा ) तुझे ( अघरुदः ) पाप की पीड़ायें ( रुदन् ) रुलावें ॥ १६ ॥

भवार्थ—मनुष्य विद्वानों द्वारा अज्ञान से बचकर पुरुषार्थ करके विपत्तियों से छूट कर कभी दुःख न उठावें ॥ १६ ॥

आहा॑र्षमविदं त्वा पुन॒रागाः पुन॑र्णवः ।
सर्वा॑ङ्ग॒ सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च तेऽविदम् ॥ २० ॥

आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । अवि॑दम् । त्वा॒ । पुन॑रिति । आ । अ॒गाः॒ । पुनः॑ऽनवः ॥ सर्व॑ऽअङ्ग । सर्व॑म् । ते॒ । चक्षुः॑ । सर्व॑म् । आयुः॑ । च॒ । ते॒ । अ॒वि॒द॒म् ॥ २० ॥

भावार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( त्वा ) तुझको ( आ अहार्षम् ) मैंने ग्रहण किया है और ( अविदम् ) पाया है, तू ( पुनर्णवः ) नवीन होकर ( पुनः ) फिर ( आ अगाः ) आया है। ( सर्वाङ्ग ) हे सम्पूर्ण [ विद्या के ] अङ्ग वाले ( ते ) तेरे लिये ( सर्वम् ) सम्पूर्ण ( चक्षुः ) दर्शन सामर्थ्य ( च ) और ( ते )

---

परम् ) पॄ पालनपूरणयोः—लुङ्। रक्षितवानस्मि ( सम् ) सम्यक् ( धमन्तु ) गच्छन्तु—निघ० २। १४। प्राप्नुवन्तु ( वयोधसः ) जीवनधारकाः पदार्थाः ( मा ) निषेधे ( त्वा ) ( व्यस्तकेश्यः ) वि+असु क्षेपणे—क्त+काशृ दीप्तौ—घञ्। आकारस्य एकारः। स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्। पा० ४। १। ५४। इति ङीप्। केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२। २५। व्यस्तः केशः प्रकाशो याभिस्ताः। नाशितप्रकाशाः ( त्वा ) ( अघरुदः ) रुदेः क्विप्। अघस्य रुदः। पापपीडाः ( मा रुदन् ) रुदिर् अश्रुविमोचने—लुङ्। अन्तर्गतण्यर्थः। मा रूरुदन्। मा रोदयन्तु ॥

२०—( आ ) समन्तात् ( अहार्षम् ) स्वीकृतवानस्मि ( अविदम् ) लब्धवानस्मि। ( त्वा ) ब्रह्मचारिणम् ( पुनः ) विद्याप्राप्त्यनन्तरम् ( आ अगाः ) आगतवानसि ( पुनर्णवः ) विद्यया नवीनजीवनः सन् ( सर्वाङ्ग ) प्राप्त—

तेरे लिये ( सर्वम् ) सम्पूर्ण ( आयुः ) आयु ( अविदम् ) मैंने पायी है ॥ २० ॥

**भावार्थ**—जिस पुरुष को आचार्य स्वीकार करके विद्यादान देकर द्विजन्मा बनाता है, वह सब प्रकार विद्या से प्रकाशित होकर उत्तम जीवनयुक्त होता है ॥ २० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६१ । ५ ॥

**व्य॑वात् ते॒ ज्योति॑रभूद॒प त्वत् तमो॑ अक्रमीत् ।**

**अप॒ त्वन्मृ॒त्युं निर्ऋ॑ति॒मप॒ यक्ष्मं॒ नि द॑ध्मसि ॥ २१ ॥**

वि । अ॒वा॒त् । ते॒ । ज्योतिः॑ । अ॒भू॒त् । अप॑ । त्वत् । तमः॑ । अ॒क्र॒मी॒त् ॥ अप॑ । त्वत् । मृ॒त्युम् । निः॒ऽऋ॑तिम् । अप॑ । य॒क्ष्म॑म् । नि । द॒ध्म॒सि॒ ॥ २१ ॥

**भाषार्थ**—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( ज्योतिः ) जोति ( वि ) विविध प्रकार ( अवात् ) आई है और ( अभूत् ) उपस्थित हुई है, ( त्वत् ) तुझ से ( तमः ) अन्धकार ( अप अक्रमीत् ) चलदिया है । ( त्वत् ) तुझसे ( मृत्युम् ) मृत्यु को और ( निर्ऋतिम् ) अलक्ष्मी को ( अप ) अलग और ( यक्ष्मम् ) राजरोग को ( अप ) अलग ( नि दध्मसि ) हम धरते हैं ॥ २१ ॥

**भावार्थ**—मनुष्य वेदद्वारा अज्ञान का नाश करके दुःखों और क्लेशों से छूट कर नीरोग होकर आनन्द भोगे ॥ २१ ॥

## सूक्तम् २ ॥

१-२८ ॥ १-६, ११-१३, १५, १६, १९-२८ प्रजापतिः ; ७ भवाशर्वौ ; ८, १० मृत्युः ; ९ विश्वे देवाः ; १४ द्यावापृथिव्यादयः ; १७ धाता ; १८ व्रीहियवौ देवते ॥

---

विद्यासम्पूर्णाङ्ग ( सर्वम् ) सम्पूर्णम् ( ते ) तुभ्यम् ( चक्षुः ) दर्शनसामर्थ्यम् ( आयुः ) जीवनम् । अन्यद् गतम् ॥

२१—( वि ) विविधम् ( अवात् ) वा गतिगन्धनयोः—लङ् । अगच्छत् ( ते ) तुभ्यम् ( ज्योतिः ) प्रकाशः ( अभूत् ) उपस्थितमभूत् ( त्वत् ) त्वत्तः ( तमः ) अन्धकारः । अबोधः ( अप अक्रमीत् ) अपक्रान्तमभूत् ( अप ) पृथक्-करणे ( त्वत् ) ( मृत्युम् ) प्राणनाशकं दुःखम् ( निर्ऋतिम् ) कृच्छ्रापत्तिम् ( अप ) ( यक्ष्मम् ) राजरोगम् ( नि दध्मसि ) निदध्मः । नीचैः स्थापयामः ॥

१, २, ७ भुरिक् त्रिष्टुप्; ३, २६ आस्तारपङ्क्तिः; ४ प्रस्तारपङ्क्तिः; ५, १०, १६-१८, २०, २३-२५, २७ अनुष्टुप्; ६, १५ पथ्या पङ्क्तिः; ८, १३ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती; ६ पञ्चपदा जगती; ११ विष्टारपङ्क्तिः; १२, २२, २८ पुरस्ताद् बृहती; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; १६ उपरिष्टाद् बृहती; २१ बृहती छन्दः ॥

कल्याणप्राप्त्युपदेशः—कल्याण की प्राप्ति का उपदेश ॥

आ रभस्वेमामृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते । असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥

आ । रभस्व । इमाम् । अमृतस्य । श्नुष्टिम् । अच्छिद्यमाना जरत्-अष्टिः । अस्तु । ते ॥ असुम् । ते । आयुः । पुनः । आ । भरामि । रजः । तमः । मा । उप । गाः । मा । प्र । मेष्ठाः ॥१॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अमृतस्य) अमृत की (इमाम्) इस (श्नुष्टिम्) प्राप्ति को (आ) भलीभांति (रभस्व) ग्रहण कर, (अच्छिद्यमाना) बिना कटती हुई (जरदष्टिः) स्तुति की व्याप्ति [फैलाव] (ते) तेरे लिये (अस्तु) होवे। (ते) तेरे (असुम्) बुद्धि और (आयुः) जीवन को (पुनः) वार वार (आ) अच्छे प्रकार (भरामि) मैं पुष्ट करता हूं, (रजः) रजोगुण और (तमः) तमोगुण को (मा उप गाः) मत प्राप्त हो और (मा प्र मेष्ठाः) मत पीड़ित हो ॥ १ ॥

---

१—(आ) समन्तात् (रभस्व) उपक्रमस्व। गृहाण (इमाम्) वक्ष्यमाणाम् (अमृतस्य) अमरणस्य। पुरुषार्थस्य (श्नुष्टिम्) (अ० ३। १७। २। ष्णुसु आदाने—क्तिन्, छान्दसं रूपम्। प्राप्तिम् (अच्छिद्यमाना) अच्छेदनीया (जरदष्टिः) अ० २। २८। ५। जॄ स्तुतौ—अतृन्+अशू व्याप्तौ-क्तिन्। स्तुतिव्याप्तिः (अस्तु) (ते) तुभ्यम् (असुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३। ६ (ते) तव (आयुः) जीवनम् (पुनः) वारं वारम् (आ) (भरामि) पोषयामि (रजः) सत्त्वगुणप्रतिबन्धकं रजोगुणम् (तमः) हिताहितविवेकबाधकं तमोगुणम् (मा उप गाः) इण् गतौ—लुङ्। मा प्राप्नुहि (मा प्र मेष्ठाः) मीञ् हिंसायाम् लुङ्। हिंसां पीडां मा प्राप्नुहि ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक सत्त्वगुण के प्रतिबन्धक रजोगुण और हित अहित ज्ञान के बाधक तमोगुण को छोड़कर सात्त्विक होकर जीवन को सफल करें ॥ १ ॥

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय। अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥२॥

जीवताम्। ज्योतिः। अभि-एहि। अर्वाङ्। आ। त्वा। हरामि। शत-शारदाय॥ अव-मुञ्चन्। मृत्यु-पाशान्। अशस्तिम्। द्राघीयः। आयुः। प्र-तरम्। ते। दधामि॥ २॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( जीवताम् ) जीते हुये मनुष्यों की ( ज्योतिः ) ज्योति ( अर्वाङ् ) सन्मुख होकर ( अभ्येहि ) सब ओर से प्राप्त कर, ( त्वा ) तुझ को ( शतशारदाय ) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये ( आ ) सब प्रकार ( हरामि ) स्वीकार करता हूं। ( मृत्युपाशान् ) मृत्यु के फन्दों और ( अशस्तिम् ) अपकीर्त्ति को ( अवमुञ्चन् ) छोड़ता हुआ मैं ( द्राघीयः ) अधिक दीर्घ और ( प्रतरम् ) अधिक उत्तम ( आयुः ) जीवन को ( ते ) तेरे लिये ( दधामि ) पुष्ट करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य जीते हुये अर्थात् पुरुषार्थी जनों का अनुकरण करके मानसिक और शारीरिक रोगों और निन्दित कर्मों से अलग रहकर कीर्त्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव। यत् ते

२—( जीवताम् ) जीव प्राणधारणे—शतृ। प्राणिनां पुरुषार्थिनाम् ( ज्योतिः ) अनुकरणरूपं प्रकाशम् ( अभ्येहि ) सर्वतः प्राप्नुहि ( अर्वाङ् ) अभिमुखः सन् ( आ ) समन्तात् ( त्वा ) त्वां पुरुषम् ( हरामि ) स्वीकरोमि ( शतशारदाय ) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्ताय जीवनाय ( अवमुञ्चन् ) उत्सृजन् ( मृत्युपाशान् ) दुःखबन्धान् ( अशस्तिम् ) अपकीर्त्तिम् ( द्राघीयः ) प्रियस्थिर०। पा० ६। ४। १५७। दीर्घ-ईयसुन्, द्राघादेशः। दीर्घतरम् ( आयुः ) जीवनम् ( प्रतरम् ) प्रकृष्टतरम् ( ते ) तुभ्यम् ( दधामि ) पोषयामि ॥

मनुस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद् जिह्वयालपन् ३

वातात् । ते । प्राणम् । अविदम् । सूर्यात् । चक्षुः । अहम् । तव ॥ यत् । ते । मनः । त्वयि । तत् । धारयामि । सम् । वित्स्व । अङ्गैः । वद । जिह्वया । अलपन् ॥ ३ ॥

**भाषार्थ**—[ हे मनुष्य ! ] ( वातात् ) वायु से ( ते ) तेरे ( प्राणम् ) प्राण को और ( सूर्यात् ) सूर्य से ( तव ) तेरी ( चक्षुः ) दृष्टि ( अहम् ) मैं ने ( अविदम् ) पाया है। ( यत् ) जो ( ते ) तेरा ( मनः ) मन है, ( तत् ) उस को ( त्वयि ) तुझ में ( धारयामि ) स्थापित करता हूं, ( अङ्गैः ) [ शास्त्र के ] सब अङ्गों से ( सम् वित्स्व ) यथावत् जान, ( जिह्वया ) जीभ से ( अलपन् ) बकवाद न करता हुआ ( वद ) बोल ॥ ३ ॥

**भावार्थ**—जैसे वायु से प्राण और सूर्य से दृष्टि स्थिर रहती है, वैसेही मनुष्य आत्मा में मन को निश्चल करके पदार्थों के तत्त्व को साक्षात् करके सारांश का उपदेश करे ॥ ३ ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि । नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ४

प्राणेन । त्वा । द्वि-पदाम् । चतुः-पदाम् । अग्निम्-इव । जातम् । अभि । सम् । धमामि ॥ नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः प्राणाय । ते । अकरम् ॥ ४ ॥

---

३—( वातात् ) वायुसकाशात् ( ते ) तव ( प्राणम् ) जीवनम् ( अविदम् ) लब्धवानस्मि ( सूर्यात् ) आदित्यात् ( चक्षुः ) दृष्टिम् ( अहम् ) प्राणी ( तव ), ( यत् ) ( ते ) तव ( मनः ) अन्तः करणम् ( त्वयि ) तवात्मनि ( तत् ) मनः ( धारयामि ) स्थापयामि ( सम् वित्स्व ) समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः। पा० १ । ३ । २६ । सं पूर्वाद् विद ज्ञाने आत्मनेपदम् । सम्यग् ज्ञानं प्राप्नुहि ( अङ्गैः ) शास्त्राङ्गैः ( वद ) उदीरय ( जिह्वया ) रसनया ( अलपन् ) लपनं प्रलापमनर्थकथनमकुर्वन् ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( त्वा ) तुझ को ( द्विपदाम् ) दो पायों और ( चतुष्पदाम् ) चौपायों के ( प्राणेन ) प्राण से ( अभि ) सब ओर से ( सम् धमामि ) मैं फूंकता हूं, ( इव ) जैसे ( जातम् ) उत्पन्न हुये ( अग्निम् ) अग्नि को। ( मृत्यो ) हे मृत्यु ! ( ते ) तेरी ( चक्षुषे ) दृष्टि को ( नमः ) नमस्कार और ( ते ) तेरे ( प्राणाय ) प्राण [ प्रबलता ] को ( नमः ) नमस्कार ( अकरम् ) मैं ने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु की दृष्टि और प्रबलता विचार कर दोपाये और चौपाये आदि प्राणियों से पुरुषार्थ सीखकर अपने पराक्रम से प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी होवें ॥ ४ ॥

अयं जीवतु मा मृ॑ते॒मं समी॑रयामसि ।
कृणोम्य॑स्मै भेषजं मृत्यो मा पुरु॑षं वधीः ॥ ५ ॥

अयम् । जीवतु । मा । मृत । इमम् । सम् । ई॒रयामसि ॥
कृणोमि । अस्मै । भेषजम् । मृत्यो इति । मा । पुरुषम् । वधीः ॥५

भाषार्थ—( अयम् ) यह [ जीव ] ( जीवतु ) जीता रहे ( मा मृत ) न मरे, ( इमम् ) इस [ जीव ] को ( सम् ईरयामसि ) हम वायु समान [ शीघ्र ] चलाते हैं। ( अस्मै ) इस के लिये मैं ( भेषजम् ) औषध ( कृणोमि ) करता हूं ( मृत्यो ) हे मृत्यु ! ( पुरुषम् ) [ इस ] पुरुष को ( मा वधीः ) मत मार ॥ ५ ॥

---

४—( प्राणेन ) जीवनेन ( त्वा ) ( द्विपदाम् ) मनुष्यादीनाम् ( चतुष्पदाम् ) गवाश्वादीनाम् ( अग्निम् ) भौतिकपावकम् ( इव ) यथा ( जातम् ) नवोत्पन्नम् ( अभि ) सर्वतः ( सम् ) सम्यक् ( धमामि ) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः। दीर्घश्वासेन संयोजयामि ( नमः ) नमस्कारः ( ते ) तव ( मृत्यो ) ( चक्षुषे ) दृष्टये ( नमः ) प्राणाय ) प्रकृष्टाय बलाय ( ते ) तव ( अकरम् ) कृतवानस्मि ॥

५—( अयम् ) जीवः ( जीवतु ) प्राणान् धरतु ( मा मृत ) मृङ् प्राणत्यागे-लुङ्। प्राणान् मा त्यजतु ( इमम् ) आत्मानम् ( समीरयामसि ) वायुवच्छीघ्रं प्रेरयामः ( कृणोमि ) करोमि ( अस्मै ) जीवाय ( भेषजम् ) औषधम् ( मृत्यो ) ( पुरुषम् ) जीवम् ( मा वधीः ) मा जहि ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी निरालसी होकर धर्म में वायु समान शीघ्र चलते हैं, वे अमर मनुष्य दुःख में नहीं फंसते ॥ ५ ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्। त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम्। नघ-रिषाम्। जीवन्तीम्। ओषधीम्। अहम्॥ त्रायमाणाम्। सहमानाम्। सहस्वतीम्। इह। हुवे। अस्मै। अरिष्ट-तातये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जीवलाम्) जीवन देनेवाली, (नघरिषाम्) न कभी हानि करने वाली, (जीवन्तीम्) जीव रखनेवाली, (त्रायमाणाम्) रक्षा करनेवाली, (सहमानाम्) [रोग] दवा लेनेवाली, (सहस्वतीम्) बल वाली (ओषधीम्) ओषधि [समान वेद विद्या] को (इह) यहां [आत्मा में] (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) शुभ करने के लिये (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ओषधि समान वेद विद्या का सेवन करते हैं; वे शुभ भोगते हैं ॥ ६ ॥

(जीवला, जीवन्ती, और त्रायमाणा) ओषधि विशेष भी हैं ॥

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु। भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥

६—(जीवलाम्) जीव+ला दाने-क, टाप्। जीवप्रदाम् (नघरिषाम्) स घा वीरो न रिष्यति-ऋक्० १। १८। ४। पदमत्र (न) निषेधे (घ) अवधारणे, सांहितिको दीर्घः, रिष हिंसायाम्-क, टाप्। नैव हिंसाशीलाम् (जीवन्तीम्) कहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि। उ० ३। १२७। जीव प्राणधारणे—झच्, षित्वात् ङीष्। प्राणधारिकाम्। अशुष्काम् (ओषधीम्) भेषजम् (त्रायमाणाम्) रक्षन्तीम् (सहमानाम्) रोगस्याभिभवित्रीम् (सहस्वतीम्) बलवतीम् (इह) आत्मनि (हुवे) आह्वयामि (अस्मै) जीवहिताय (अरिष्टतातये) अ० ३। ५। ५। शुभकरणाय ॥

अधि । ब्रूहि । मा । आ । रभथाः । सृज । इमम् । तव । एव । सन् । सर्व-हायाः । इह । अस्तु ॥ भवाशर्वौ । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अप-सिध्य । दुः-इतम् । धत्तम् । आयुः ॥७॥

भाषार्थ—[हे मृत्यु-म० ५] (अधि ब्रूहि) ढाढ़स दे, (मा आ रभथाः) मत पकड़, (इमम्) इस [पुरुष] को (सृज) छोड़, यह (तव एव सन्) तेरा ही होकर (सर्वहायाः) सब गति वाला (इह) यहां (अस्तु) रहे। (भवाशर्वौ) भव, [सुख देने वाले प्राण] और शर्व [क्लेश वा मल नाश करने वाले अपान वायु] तुम दोनों (मृडतम्) प्रसन्न हो, (शर्म) सुख (यच्छतम्) दान करो और (दुरितम्) दुर्गति (अपसिध्य) हटा कर (आयुः) जीवन (धत्तम्) पुष्ट करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु अर्थात् विपत्ति को सम्पत्ति का कारण समझकर पूर्ण साहसी होकर आत्मिक और शारीरिक बल से विघ्न हटाकर कीर्तिमान् होवें ॥ ७ ॥

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ऽयमेतु । अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः । अयम् । एतु ॥ अरिष्टः । सर्व-अङ्गः । सु-श्रुत् । जरसा । शत-हायनः । आत्मना । भुजम् । अश्नुताम् ॥ ८ ॥

७—(अधि ब्रूहि) अनुग्रहेण वद (मा आ रभथाः) मा गृहाण (सृज) त्यज (इमम्) जीवम् (तव) (एव) (सन्) (सर्वहायाः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। ओहाङ् गतौ—असुन्, युगागमः। सर्वगतिः (इह) अस्मिन् संसारे (अस्तु) (भवाशर्वौ) अ० ४। २८। १। सुखस्य भावयिता कर्ता भवः प्राणः, दुःखस्य शरिता नाशकः शर्वोऽपानवायुश्च तौ (मृडतम्) सुखिनौ भवतम् (शर्म) सुखम् (यच्छतम्) दत्तम् (अपसिध्य) निराकृत्य (दुरितम्) दुर्गतिम् (धत्तम्) पोषयतम् (आयुः) जीवनम् ॥

भाषार्थ—( मृत्यो ) हे मृत्यु ( अस्मै ) इस [ मनुष्य ] को ( अधि ब्रूहि ) ढाढ़स दे, ( इमम् ) इस पर ( दयस्व ) दया कर, ( अयम् ) यह [ मनुष्य ] ( उत् इतः=उदितः ) उदय होता हुआ ( एतु ) चले। ( अरिष्टः ) निर्हानि, ( सर्वाङ्गः ) पूरे अङ्गों वाला, ( सुश्रुत् ) भली भांति सुनने वाला, ( जरसा ) स्तुति के साथ ( शतहायनः ) सौ वर्षों वाला होकर ( आत्मना ) आत्मबल से ( भुजम् ) पालन सामर्थ्य ( अश्नुताम् ) प्राप्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विपत्तियों में ढाढ़स बांधकर आगे बढ़ते जाते हैं वे आत्मावलम्बी [ सूर्य के समान अन्धकार से ] उदय होकर पूरा सुख भोगते हैं ॥ ८ ॥

**दे॒वानां॑ हे॒तिः परि॑ त्वा वृणक्तु पा॒रया॑मि त्वा॒ रज॑स॒ उत् त्वा॑ मृ॒त्योरपी॑परम् । आ॒राद॒ग्निं क्र॒व्यादं॑ नि॒रूहं॑ जी॒वात॑वे ते परि॒धिं द॑धामि ॥ ९ ॥**

**दे॒वाना॑म् । हे॒तिः । परि॑ । त्वा॒ । वृ॒ण॒क्तु॒ । पा॒रया॑मि । त्वा॒ । रज॑सः । उत् । त्वा॒ । मृ॒त्योः । अपी॑परम् ॥ आ॒रात् । अ॒ग्निम् । क्र॒व्य॒-अद॑म् । निः॒-ऊह॑न् । जी॒वात॑वे । ते॒ । प॒रि॒-धिम् । द॒धा॒मि॒ ॥**

भाषार्थ—( देवानाम् ) इन्द्रियों की ( हेतिः ) चोट ( त्वा ) तुझे ( परि ) सर्वथा ( वृणक्तु ) त्यागे, मैं ( त्वा ) तुझे ( रजसः ) राग से ( पारयामि ) पार करता हूं, ( त्वा ) तुझे ( मृत्योः ) मृत्यु से ( उत् ) भले प्रकार

८—( अस्मै ) मनुष्याय ( मृत्यो ) ( अधि ) अनुग्रहेण ( ब्रूहि ) वद ( इमम् ) मनुष्यम् ( दयस्व ) दय पालने। दयां कुरु ( उदितः ) उद्गतः। उन्नतः ( अयम् ) मनुष्यः ( एतु ) गच्छतु ( अरिष्टः ) निर्हानिः ( सर्वाङ्गः ) पूर्णशरीरावयवः ( सुश्रुत् ) सुष्ठु श्रोता ( जरसा ) अ० १।३०।२। स्तुत्या ( शतहायनः ) शतसंवत्सरायुर्युक्तः ( आत्मनः ) स्वावलम्बनेन ( भुजम् ) भुज पालने-क। पालनसामर्थ्यम् ( अश्नुताम् ) प्राप्नोतु ॥

९—( देवानाम् ) इन्द्रियाणाम् ( हेतिः ) हननम् ( परि ) सर्वतः ( त्वा ) ( वृणक्तु ) वर्जयतु ( पारयामि ) तारयामि ( त्वा ) ( रजसः ) रागात् ( उत् )

(अपीपरम्) मैं ने बचाया है। (क्रव्यादम्) मांसभक्षक [रोगोत्पादक] (अग्निम्) अग्नि को (आरात्) दूर (निरुहन्) हटाता हुआ मैं (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) परिकोटा (दधामि) स्थापित करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के विकार और विघ्नों को हटा कर अपना जीवन स्थिर करें ॥ ६ ॥

**यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् । पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥ ( ३ )**

**यत् । ते । नि-यानम् । रजसम् । मृत्यो इति । अनव-धर्ष्यम् । पथः । इमम् । तस्मात् । रक्षन्तः । ब्रह्म । अस्मै । वर्म । कृण्मसि ॥१०(३)**

भाषार्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु ! (यत्) जो (ते) तेरा (रजसम्) संसार सम्बन्धी (नियानम्) मार्ग (अनवधर्ष्यम्) अजेय है। (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (इमम्) इस [पुरुष] को (रक्षन्तः) बचाते हुये हम (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (ब्रह्म) ब्रह्म [वेद विद्या वा परमेश्वर] को (वर्म) कवच (कृण्मसि) बनाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस कठिनाई को सामान्य पुरुष नहीं रोक सकते, उसको ब्रह्मचारी जन पार करके मोक्ष सुख पाते हैं ॥ १० ॥

**कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।**

उत्कर्षेण (मृत्योः) मरणात् (अपीपरम्) अ० ८ । १ । १७ । अपालयम् (आरात्) दूरे (अग्निम्) (क्रव्यादम्) मांसभक्षकम्। रोगोत्पादकम् (निरुहन्) निर+वह प्रापणे शतृ, वस्य ऊकारश्छान्दसः। निर्गमयन् (जीवातवे) अ० ६ । ५ । २ । जीवनाय (ते) तव (परिधिम्) प्राकारम् (दधामि) स्थापयामि ॥

१०—(यत्) (ते) तव (नियानम्) निरन्तरगमनम्। मार्गः (रजसम्) अर्श आद्यच्। लोकसंबद्धम् (मृत्यो) (अनवधर्ष्यम्) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३ । १ । १२४ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये—ण्यत्। धर्षितुं जेतुमशक्यम्। अजेयम् (पथः) मार्गात् (इमम्) पुरुषम् (तस्मात्) प्रसिद्धात् (रक्षन्तः) पालयन्तः (ब्रह्म) परिवृढं वेदं परमेश्वरं वा (अस्मै) पुरुषाय (वर्म) कवचम् (कृण्मसि) कृणुमः। कुर्मः ॥

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान् ११

कृणोमि । ते । प्राणापानौ । जराम् । मृत्युम् । दीर्घम् । आयुः । स्वस्ति ॥ वैवस्वतेन । प्र-हितान् । यम-दूतान् । चरतः । अप । सेधामि । सर्वान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( प्राणापानौ ) प्राण और अपान, ( जराम्=जरया ) स्तुति के साथ ( मृत्युम् ) मृत्यु [ प्राणत्याग ], ( दीर्घम् ) दीर्घ ( आयुः ) जीवन और ( स्वस्ति ) कल्याण [ अच्छी सत्ता ] को ( कृणोमि ) मैं करता हूं । ( वैवस्वतेन ) मनुष्य सम्बन्धी [ कर्म ] द्वारा ( प्रहितान् ) भेजे हुये, ( चरतः ) घूमते हुये ( सर्वान् ) सब ( यमदूतान् ) मृत्यु के दूतों को ( अप सेधामि ) मैं हटाता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग अपनी शारीरिक और आत्मिक दशा सुधारकर सब दरिद्रता, रोग आदि दुःखों को हटाते हैं ॥ ११ ॥

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् । रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥

आरात् । अरातिम् । निः-ऋतिम् । परः । ग्राहिम् । क्रव्य-अदः । पिशाचान् ॥ रक्षः । यत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । तत् । तमः-इव । अप । हन्मसि ॥ १२ ॥

११—( कृणोमि ) करोमि ( ते ) तव ( प्राणापानौ ) शरीरे ऊर्ध्वाधः संचारिणौ वायू ( जराम् ) अ० ३ । ११ । ७ । तृतीयार्थे द्वितीया । जरया स्तुत्या ( मृत्युम् ) मरणम् ( दीर्घम् ) लम्बमानम् ( आयुः ) जीवनम् ( स्वस्ति ) सुसत्ताम् । क्षेमम् ( वैवस्वतेन ) अ० ६ । ११६ । १ । विवस्वत्-अण् । विवस्वन्तो मनुष्याः-निघ० २ । ३ । मनुष्य सम्बन्धिना कर्मणा ( प्रहितान् ) प्रेरितान् ( यमदूतान् ) मृत्युसंदेशहरान् । निर्धनत्वरोगादीन् ( चरतः ) परिभ्रमतः ( अप सेधामि ) दूरं गमयामि ( सर्वान् ) निःशेषान् ॥

भाषार्थ—( अरातिम् ) निर्दानता, ( निर्ऋतिम् ) महामारी [ दरिद्रता आदि महाविपत्ति ] को ( आरात् ) दूर, ( आहिम् ) जकड़ने वाली पीड़ा, ( क्रव्यादः ) मांस खाने वाले [ रोगों ] और ( पिशाचान् ) मांस भखने वाले [ जीवों ] को ( परः ) परे। और ( यत् ) जो कुछ ( दुर्भूतम् ) कुशील ( रक्षः ) राक्षस [ दुष्ट प्राणी है ], ( तत् ) उस ( सर्वम् ) सब को ( तमःइव ) अन्धकार के समान ( अप हन्मसि ) हम मार हटाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य हिंसक रोगों, जीवों और दोषों से चौकस रह कर सुखी रहें ॥ १२ ॥

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः । यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥

अग्नेः । ते । प्राणम् । अमृतात् । आयुष्मतः । वन्वे । जातवेदसः ॥ यथा । न । रिष्याः । अमृतः । स-जूः । असः । तत् । ते । कृणोमि । तत् । ऊं इति । ते । सम् । ऋध्यताम् ॥१३॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे ( प्राणम् ) प्राण को ( अमृतात् ) अमर, ( आयुष्मतः ) बड़ी आयु वाले, ( जातवेदसः ) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले ( अग्नेः ) अग्नि [ सर्वव्यापक परमेश्वर ] से ( वन्वे ) मैं मांगता हूं। ( यथा ) जिससे ( न रिष्याः ) तू न मरे, ( सजूः ) [ उसके साथ ] प्रीति वाला

१२—( आरात् ) दूरम् ( अरातिम् ) रा दाने-क्तिन्। निर्दानताम् (निर्ऋतिम्) अ० ३।११।२। कृच्छ्रापत्तिम् ( परः ) परस्तात्। दूरे ( आहिम् ) अ० २।६।१। ग्रहणशीलां पीडाम् ( क्रव्यादः ) मांसभक्षकान् रोगान् ( पिशाचान् ) अ० १।१६।३। मांसाशनान् जीवान् ( रक्षः ) राक्षसः। दुष्टस्वभावः ( यत् ) ( सर्वम् ) ( दुर्भूतम् ) अनुचितम् ( तत् ) ( तमः ) अन्धकारम् ( इव ) यथा ( अप हन्मसि ) विनाशयामः ॥

१३—( अग्नेः ) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् ( ते ) तव ( प्राणम् ) जीवनम् ( अमृतात् ) अमरात् ( आयुष्मतः ) दीर्घायुर्युक्तात् ( वन्वे ) अहं याचे ( जातवेदसः ) उत्पन्नपदार्थज्ञात् ( यथा ) येन प्रकारेण ( न रिष्याः ) मा मृथाः ( अमृतः ) अमरः ( सजूः ) परमेश्वरेण सप्रीतिः ( तत् ) कर्म ( ते ) तुभ्यम्

तू ( अमृतः ) अमर ( असः ) रहे, मैं ( तत् ) वह [ कर्म ] ( ते ) तेरे लिये ( कृणोमि ) करता हूं, ( तत् उ ) वही ( ते ) तेरे लिये ( सम् ) यथावत् ( ऋध्यताम् ) सिद्ध होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा और गुरु जनों की शिक्षा में चलते हैं, वे बलवान् होकर सुख भोगते हैं ॥ १३ ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

शिवे इति । ते । स्ताम् । द्यावापृथिवी इति । असंतापे इत्यसम्-तापे । अभि-श्रियौ ॥ शम् । ते । सूर्यः । आ । तपतु । शम् । वातः । वातु । ते । हृदे ॥ शिवाः । अभि । क्षरन्तु । त्वा । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( द्यावापृथिवी ) आकाश और पृथिवी ( शिवे ) मङ्गलकारी, ( असन्तापे ) सन्ताप रहित और ( अभिश्रियौ ) सब ओर से ऐश्वर्यप्रद ( स्ताम् ) होवें। ( सूर्यः ) सूर्य ( ते ) तेरे लिये ( शम् ) शान्ति से ( आ तपतु ) तपता रहे, और ( वातः ) पवन ( ते ) तेरे ( हृदे ) हृदय के लिये ( शम् ) शान्ति से ( वातु ) चले। ( शिवाः ) मङ्गलकारी, ( दिव्याः ) दिव्य गुणवाले, ( पयस्वतीः ) दूध [ उत्तम रस ] वाले ( आपः ) जल ( त्वा अभि ) तेरे लिये ( क्षरन्तु ) बहें ॥ १४ ॥

---

( कृणोमि ) करोमि ( तत् ) ( उ ) अवधारणे ( ते ) तुभ्यम् ( सम् ) सम्यक् ( ऋध्यताम् ) सिध्यतु ॥

१४—( शिवे ) कल्याणकारिण्यौ ( ते ) तुभ्यम् ( स्ताम् ) भवताम् ( द्यावापृथिवी ) आकाशभूमी ( असन्तापे ) सन्तापरहिते ( अभिश्रियौ ) अभितः सर्वतः श्रीर्लक्ष्मीर्याभ्यां ते। अभिश्रीप्रदे ( शम् ) यथा तथा सुखम् ( ते ) त्वदर्थम् ( सूर्यः ) आदित्यः ( आ तपतु ) प्रकाशयतु ( शम् ) सुखम् ( वातः ) वायुः ( वातु ) वहतु ( ते ) तव ( हृदे ) हृदयाय ( शिवाः ) मङ्गलकारिण्यः ( अभि )

भावार्थ—मनुष्य आकाश पृथिवी आदि पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १४ ॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि । तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥१५॥

शिवाः । ते । सन्तु । ओषधयः । उत् । त्वा । अहार्षम् । अधरस्याः । उत्तराम् । पृथिवीम् । अभि ॥ तत्र । त्वा । आदित्यौ । रक्षताम् । सूर्याचन्द्रमसौ । उभा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( ओषधयः ) ओषधें [ अन्न-आदि ] ( शिवाः ) मङ्गलकारी ( सन्तु ) होवें, मैंने ( त्वा ) तुझको ( अधरस्याः ) नीची [ पृथिवी ] से ( उत्तराम् ) ऊंची ( पृथिवीम् अभि ) पृथिवी पर ( उत् अहार्षम् ) उठाया है । ( तत्र ) वहां [ ऊंचे स्थान पर ] ( त्वा ) तुझको ( उभा ) दोनों ( आदित्यौ ) प्रकाशमान ( सूर्याचन्द्रमसौ ) सूर्य और चन्द्रमा [ के समान नियम ] ( रक्षताम् ) बचावें ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि पदार्थों के सुन्दर उपयोग से दिन दिन अधिक उन्नति करके प्रत्यक्ष सूर्य चन्द्रमा के समान परस्पर पालन करें ॥ १५ ॥

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् । शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

यत् । ते । वासः । परि-धानम् । याम् । नीविम् । कृणुषे ।

---

प्रति ( क्षरन्तु ) स्रवन्तु ( त्वा ) त्वाम् ( आपः ) जलानि ( दिव्याः ) उत्तमगुणाः ( पयस्वतीः ) पयसा दुग्धेन श्रेष्ठरसेन युक्ताः ॥

१५—( शिवाः ) सुखकराः ( ते ) तुभ्यम् ( सन्तु ) ( ओषधयः ) व्रीह्यादयः ( उत् अहार्षम् ) उद्धृतवानस्मि ( त्वा ) त्वाम् ( अधरस्याः ) नीचायाः पृथिव्याः ( उत्तराम् ) उत्कृष्टाम् ( पृथिवीम् ) भूमिम् ( अभि ) प्रति ( तत्र ) उत्तरस्यां पृथिव्याम् ( आदित्यौ ) अ० १ । ६ । १ । आदीप्यमानौ ( रक्षताम् ) पालयताम् ( सूर्याचन्द्रमसौ ) सूर्यचन्द्रौ यथा ( उभा ) उभौ ॥

त्वम् ॥ शिवम् । ते । तन्वे । तत् । कृणमः । सम्-स्पर्शे । अद्रूक्षणम् । अस्तु । ते ॥ १६ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( यत् ) जिस ( वासः ) वस्त्र को ( परिधानम् ) ओढ़ना और ( याम् ) जिस ( नीविम् ) पेटी [ फेंटा ] को ( ते ) अपने लिये ( त्वम् ) तू ( कृणुषे ) बनाता है। ( तत् ) उसे ( ते ) तेरे ( तन्वे ) शरीर के लिये ( शिवम् ) सुख देने वाला ( कृणमः ) हम बनाते हैं, वह ( ते ) तेरे लिये ( संस्पर्शे ) छूने में ( अद्रूक्षणम् ) अनखुरखुरा ( अस्तु ) होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य कवच, अङ्गरखा आदि वस्त्र शरीर के लिये, सुखदायक बनावें ॥ १६ ॥

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

यत् । क्षुरेण । मर्चयता । सु-तेजसा । वप्ता । वपसि । केश-श्मश्रु ॥ शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोषीः ॥१७॥

भाषार्थ—( वप्ता ) नापित तू ( मर्चयता ) [ केशों का ] पकड़ने वाले ( सुतेजसा ) बड़े तेज ( यत् ) जिस ( क्षुरेण ) छुरा से ( केशश्मश्रु ) केश और और डाढ़ी मूंछ को ( वपसि ) बनाता है। [ उससे ] ( नः ) हमारे ( शुभम् ) सुन्दर ( मुखम् ) मुख और ( आयुः ) जीवन को ( मा प्र मोषीः ) मत घटा ॥१७॥

---

१६—( यत् ) ( ते ) त्वदर्थम्। स्वस्मै ( वासः ) वस्त्रम् ( परिधानम् ) उपर्य्याच्छादनम् ( याम् ) ( नीविम् ) नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः। उ० ४। १३६। नि+व्येञ् संवरणे—इण, स च डित्, यलोपश्च। कटिबन्धनम् ( कृणुषे ) करोषि ( त्वम् ) ( शिवम् ) सुखकरम् ( ते ) तव ( तन्वे ) शरीराय ( तत् ) वस्त्रम् ( कृणमः ) कुर्मः ( संस्पर्शे ) स्पर्शकरणे ( अद्रूक्षणम् ) इण् सिञ्जि०। उ० ३। २। रूक्ष पारुष्ये—नक्, दकारश्छान्दसः। अरूक्षणम्। अकोठरम् ( अस्तु ) ( ते ) तुभ्यम् ॥

१७—( यत् ) येन ( क्षुरेण ) क्षौरास्त्रेण ( मर्चयता ) मर्च शब्दे ग्रहणे च—शतृ। केशानां ग्रहीत्रा ( सुतेजसा ) सुतीक्ष्णेन ( वप्ता ) डु वप बीजसन्ताने मुण्डने च—तृन्। केशच्छेत्ता। नापितः ( वपसि ) मुण्डयसि। छिनत्सि

भावार्थ—मनुष्य केश छेदन करा के मुख और जीवन की शोभा बढ़ावें ॥ १७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि चूड़ाकर्म प्रकरण में आया है ॥

शि॒वौ ते॑ स्तां व्रीहिय॒वाव॑ब॒लासा॒वदो॑म॒धौ ।
ए॒तौ यक्ष्म॒ं वि बा॑धेते ए॒तौ मु॑ञ्च॒तो अंह॑सः ॥ १८ ॥
शि॒वौ । ते॒ । स्ता॒म् । व्री॒हि॒-य॒वौ । अ॒ब॒ला॒सौ । अ॒दो॒म॒धौ ॥
ए॒तौ । यक्ष्म॑म् । वि । बा॒धे॒ते॒ इति॑ । ए॒तौ । मु॒ञ्च॒तः॒ । अंह॑सः ॥१८॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( व्रीहियवौ ) चावल और जौ ( शिवौ ) मङ्गल करनेवाले, ( अबलासौ ) बल के न गिराने वाले और ( अदोमधौ ) भोजन में हर्ष करनेवाले ( स्ताम् ) हों। ( एतौ ) यह दोनों ( यक्ष्मम् ) राज रोग को ( वि ) विशेष करके ( बाधेते ) हटाते हैं, ( एतौ ) यह दोनों ( अंहसः ) कष्ट से ( मुञ्चतः ) छुड़ाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चावल और जौ आदि सात्त्विक अन्न का भोजन प्रसन्न होकर करना चाहिये, जिससे वह पुष्टिकारक हों ॥ १८ ॥

यद॒श्नासि॒ यत् पिब॑सि धा॒न्यं॑ कृ॒ष्याः पयः॑ ।
यदा॒द्य॑१॒ यद॑ना॒द्यं सर्वं॑ ते॒ अन्न॑मवि॒षं कृ॑णोमि ॥१९॥

---

( केशश्मश्रु ) क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५. ३३। क्लिश उपतापे, क्लिशू विबाधने—अन्, लस्य लोपः। इति केशः कचः। श्मश्रु यथा—अ० ५,१९।२। शिरोरोमाणि मुखरोमाणि च ( शुभम् ) शोभनम् ( मुखम् ) ( नः ) अस्माकम् ( आयुः ) जीवनम् ( मा प्र मोषीः ) मा प्रहिंसीः ॥

१८—( शिवौ ) सुखकरौ ( ते ) तुभ्यम् ( स्ताम् ) ( व्रीहियवौ ) अन्नविशेषौ ( अबलासौ ) अ० ६। ९३। १। अ+बल+असु क्षेपणे—क्विप्। शरीरबलस्य अक्षेप्तारौ ( अदोमधौ ) अद भक्षणे-असुन्+मद हर्षे—अच्, दस्य धः। भोजने हर्षकरौ ( एतौ ) व्रीहियवौ ( यक्ष्मम् ) राजरोगम् ( वि ) विशेषेण ( बाधेते ) अपनयतः ( एतौ ) ( मुञ्चतः ) मोचयतः ( अंहसः ) कष्टात् ॥

यत् । अश्नासि । यत् । पिबसि । धान्यम् । कृष्याः । पयः ॥
यत् । आद्यम् । यत् । अनाद्यम् । सर्वम् । ते । अन्नम् ।
अविषम् । कृणोमि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( यत् ) जो तू ( कृष्याः ) खेती का [ उपजा ] ( धान्यम् ) धान्य ( अश्नासि ) खाता है, और ( यत् ) जो तू ( पयः ) दूध वा जल ( पिबसि ) पीता है। ( यत् ) चाहे ( आद्यम् ) पुराना [ धरा हुआ ], ( यत् ) चाहे ( अनाद्यम् ) नवीन [ पुराने से भिन्न ] हो, ( सर्वम् ) वह सब ( अन्नम् ) अन्न ( ते ) तेरे लिये ( अविषम् ) निर्विष ( कृणोमि ) करता हूं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य खान पान विचार पूर्वक करते हैं, वे नीरोग रहते हैं ॥ १९ ॥

सायणाचार्य ने अर्थ किया है—( आद्यम् ) खाने योग्य, सुख से भक्षणीय और ( अनाद्यम् ) न खाने योग्य, कठिन वा अत्यन्त कटु तिक्त द्रव्य ॥

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥ (४)

अह्ने । च । त्वा । रात्रये । च । उभाभ्याम् । परि । दद्मसि ॥
अरायेभ्यः । जिघत्सु-भ्यः । इमम् । मे । परि । रक्षत ॥२०॥ (४)

भाषार्थ—( त्वा ) तुझे ( उभाभ्याम् ) दोनों ( अह्ने ) दिन ( च च )

---

१९—( यत् ) यत्किञ्चित् ( अश्नासि ) खादसि ( यत् ) ( पिबसि ) ( धान्यम् ) अन्नम् ( कृष्याः ) कृषिकर्मणः प्राप्तम् ( पयः ) दुग्धं जलं वा ( यत् ) यदि वा ( आद्यम् ) दिगादिभ्यो यत्। पा० ४।३।५४। आदि–यत्। आदौ भवम्। प्रथमम्। पुराणम्। यद्वा अद भक्षणे–ण्यत्। अदनीयम्। सुखेन भक्षणीयम्–यथा सायणः ( यत् ) अनाद्यम्–आद्येन प्रथमेन भिन्नम्। नवीनम्। यद्वा अदनानर्हं कठिनद्रव्यम्, अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम्–इति सायणः ( सर्वम् ) ( ते ) तुभ्यम् ( अन्नम् ) जीवनसाधनं भक्षणीयं वा द्रव्यम् ( अविषम् ) निर्विषम्। नीरोगम् ( कृणोमि ) करोमि ॥

२०—( अह्ने ) दिनाय। प्रकाशकालाय ( त्वा ) त्वाम् ( रात्रये ) अन्धकार-

और ( रात्रये ) रात्रि को ( परि दद्मसि ) हम सौंपते हैं। ( अरायेभ्यः ) निर्दानी और ( जिघत्सुभ्यः ) खाना चाहने वाले लोगों से ( इमम् ) इस [ पुरुष ] को ( मे ) मेरे लिये ( परि ) सब प्रकार ( रक्षत ) तुम बचाओ ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाश अन्धकार और समय कुसमय का विचार करके शत्रुओं से परस्पर रक्षा करें ॥ २० ॥

**शतं ते॒ऽयुतं॑ हाय॒नान् द्वे यु॒गे त्रीणि॑ च॒त्वारि॑ कृण्मः।**
**इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्तेऽनु॑ मन्यन्ता॒महृ॑णीयमानाः ॥ २१ ॥**

श॒तम्। ते॒। अ॒युत॑म्। हा॒य॒नान्। द्वे इति॑। यु॒गे इति॑। त्रीणि॑। च॒त्वारि॑। कृ॒ण्मः॥ इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑। विश्वे॑। दे॒वाः। ते। अनु॑। म॒न्य॒न्ता॒म्। अहृ॑णीयमानाः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ते ) तेरे लिये ( शतम् ) सौ और ( अयुतम् ) दश सहस्र ( हायनान् ) वर्षों को [ क्रम से ] ( द्वे युगे ) दो युग, ( त्रीणि ) तीन [ युग ] और ( चत्वारि ) चार [ युग ] ( कृण्मः ) हम करते हैं। ( इन्द्राग्नी ) वायु और अग्नि और ( ते ) वे [ प्रसिद्ध ] ( विश्वे देवाः ) सब दिव्य पदार्थ [ सूर्य, पृथिवी आदि ] ( अहृणीयमानाः ) संकोच न करते हुये ( अनु मन्यन्ताम् ) अनकूल रहें ॥ २१ ॥

---

कालाय ( च च ) समुच्चये ( उभाभ्याम् ) द्वाभ्याम् ( परि दद्मसि ) समर्पयामः ( अरायेभ्यः ) रा दाने—घञ्। आतो युक् चिण्कृतोः। पा० ७। ३। ३३। इति युक्। अदातृभ्यः ( जिघत्सुभ्यः ) अद भक्षणे—सन्—उप्रत्ययः। लुङ्सनोर्घस्लृ। पा० २। ४। ३७। अदेर्घस्लादेशे। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। पा० ७। २। १०। इट्प्रतिषेधः। सः स्यार्धधातुके। पा० ७। ४। ४९। इति तत्वम्। भक्षणेच्छुकेभ्यः पुरुषेभ्यः ( इमम् ) पुरुषम् ( मे ) मह्यम् ( परि ) सर्वतः (रक्षत) पालयत ॥

२१—( शतम् ) कलिसन्धेः शतदैववर्षाणि ( ते ) तुभ्यम् ( अयुतम् ) कलियुगस्य दशसहस्रदैववर्षाणि ( हायनान् ) अ० ३। १०। ९। संवत्सरान् ( द्वे युगे ) द्विगुणितं शतंचायुतंच द्वापरस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि ( त्रीणि ) त्रिगुणितं शतं चायुतं च त्रेतायुगस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि ( चत्वारि ) चतु-

भावार्थ—परमेश्वर ने यह सृष्टि और काल चक्र मनुष्य के उपकार के लिये बनाये हैं। विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की अपार महिमा में अपना पराक्रम बढ़ाकर नये नये आविष्कार करके अमर नाम करते हैं ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० १ । ३५ । ४ ॥

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सृष्टि का समय क्रम कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग और वर्षों का अर्थ दैववर्ष जान पड़ता है, सो इस प्रकार है ॥

| सन्धिकाल | युगकाल |
|---|---|
| १०० × १ = १०० | १०,००० × १ = १०,००० |
| १०० × २ = २०० | १०,००० × २ = २०,००० |
| १०० × ३ = ३०० | १०,००० × ३ = ३०,००० |
| १०० × ४ = ४०० | १०,००० × ४ = ४०,००० |
| योगसन्धि १,००० वर्ष | योगयुग १,००,००० |

योगसन्धि और युग १,०१,०००

गुणित शतं चायुतं च कृतयुगस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि ( कृण्मः ) कुर्मः । अन्यद् यथा-अ० १ । ३५ । ४ ( इन्द्राग्नी ) वाय्वग्नी ( विश्वे ) सर्वे ( देवाः ) दिव्यगुणाः पदार्थाः ( ते ) प्रसिद्धाः ( अनुमन्यन्ताम् ) अनुकूला भवन्तु ( अहृणीयमानाः ) असंकुचन्तः ॥

१—अथर्ववेद काण्ड ८ सूक्त २ मन्त्र २१ के अनुसार युगवर्ष गणना ॥

सूचना—मन्त्र में केवल [ सौ, दश सहस्र, वर्षे, दो युग, तीन और चार ] पद हैं, कलि आदि पदों की कल्पना की गयी है। एक दैववर्ष में ३६० [ तीन सौ साठ ] मानुष वा सौर वर्ष होते हैं ॥

| सन्धि और युग | कलि | | द्वापर | | त्रेता | | कृतयुग | | चतुर्युगी | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष |
| सन्धि | १०० | ३६,००० | २०० | ७२,००० | ३०० | १,०८,००० | ४०० | १,४४,००० | १,००० | ३,६०,००० |
| युग | १०,००० | ३६,००,००० | २०,००० | ७२,००,००० | ३०,००० | १,०८,००,००० | ४०,००० | १,४४,००,००० | १,००,००० | ३,६०,००,००० |
| योग | १०,१०० | ३६,३६,००० | २०,२०० | ७२,७२,००० | ३०,३०० | १,०९,०८,००० | ४०,४०० | १,४५,४४,००० | १,०१,००० | ३,६३,६०,००० |

२—मनु अध्याय १ श्लोक ६९—७० और सूर्य सिद्धान्त अध्याय १ श्लोक १५–१७ के अनुसार युग वर्ष गणना ॥

| सन्धि और युग | कृतयुग | | त्रेतायुग | | द्वापरयुग | | कलियुग | | चतुर्युगी | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष | दैव वर्ष | मानुष वा सौर वर्ष |
| सन्ध्या वर्ष | ४०० | १,४४,००० | ३०० | १,०८,००० | २०० | ७२,००० | १०० | ३६,००० | १,००० | ३,६०,००० |
| युग वर्ष | ४,००० | १४,४०,००० | ३,००० | १०,८०,००० | २,००० | ७,२०,००० | १,००० | ३,६०,००० | १०,००० | ३६,००,००० |
| संध्यांशवर्ष | ४०० | १,४४,००० | ३०० | १,०८,००० | २०० | ७२,००० | १०० | ३६,००० | १,००० | ३,६०,००० |
| योग ... | ४,८०० | १७,२८,००० | ३,६०० | १२,९६,००० | २४,००० | ८,६४,००० | १,२०० | ४,३२,००० | १२,००० | ४३,२०,००० |

[ आगे मनु श्लोक ७१, ७२ के अनुसार बारह सहस्र चतुर्युगी का एक दैव युग और एक सहस्र दैव युग का ब्रह्मा का एक दिन, और इतनी ही रात्री। अर्थात् १२,००० दैव वर्ष × १००० युग × ३६० मानुष वर्ष=४,३२,००,००,००० [चार अरब बत्तीस करोड़] मानुष वर्ष का एक दिन और इतनी वर्षों की ब्रह्मा की रात्री है, परन्तु मन्त्र का संबन्ध इससे नहीं है ] ॥

शरदे॑ त्वा हेम॒न्ताय॑ वस॒न्ताय॑ ग्रीष्माय॑ परि॑ दद्मसि।
व॒र्षाणि॒ तुभ्यं॑ स्यो॒नानि॒ येषु॒ वर्ध॑न्त॒ ओष॑धीः ॥ २२ ॥

शरदे॑। त्वा॒। हे॒म॒न्ताय॑। व॒स॒न्ताय॑। ग्री॒ष्माय॑। परि॑। द॒द्म॒सि॒ ॥
व॒र्षाणि॑। तुभ्य॑म्। स्यो॒ना॑नि॑। येषु॑। वर्ध॑न्ते। ओष॑धीः ॥२२॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( त्वा ) तुझे ( शरदे ) शरद्, ( हेमन्ताय ) हेमन्त [ और शिशिर ], ( वसन्ताय ) वसन्त और ( ग्रीष्माय ) ग्रीष्म [ ऋतु ] को ( परि दद्मसि ) हम सौंपते हैं। ( वर्षाणि ) वर्षायें ( तुभ्यम् ) तेरे लिये ( स्योनानि ) मनभावनी [ होवें ], ( येषु ) जिनमें ( ओषधीः ) ओषधें [ अन्न आदि वस्तुयें ] ( वर्द्धन्ते ) बढ़ती हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब ऋतुओं से यथावत् उपयोग लेकर सुखी रहें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० ६। ५५। २। से करो जहां छह ऋतुयें वर्णित हैं ॥

मृ॒त्युरी॑शे द्वि॒पदां॑ मृ॒त्युरी॑शे॒ चतु॑ष्पदाम्।
तस्मा॑त् त्वां मृ॒त्योर्गोप॑ते॒रुद्भ॑रामि॒ स मा बि॑भेः ॥ २३ ॥

मृ॒त्युः। ई॒शे॒। द्वि॒-पदा॑म्। मृ॒त्युः। ई॒शे॒। चतुः॑-पदाम् ॥ तस्मा॑त्।
त्वाम्। मृ॒त्योः। गो-प॑तेः। उत्। भ॒रा॒मि॒। सः। मा। वि॒भेः॒ ॥२३॥

भाषार्थ—( मृत्युः ) मृत्यु ( द्विपदाम् ) दोपायों का ( ईशे ) शासक है, ( मृत्युः ) मृत्यु ( चतुष्पदाम् ) चौपायों का ( ईशे ) शासक है। ( तस्मात् )

---

२२—( परि दद्मसि ) समर्पयामः ( वर्षाणि ) श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः ( तुभ्यम् ) ( स्योनानि ) सुखकराणि ( येषु ) ( वर्द्धन्ते ) उत्पद्यन्ते ( ओषधीः ) व्रीहियवादयः। अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६। ५५। २। ( शरदे ) आश्विन-कार्तिकात्मकाय कालाय ( त्वा ) त्वाम् ( हेमन्ताय ) अग्रहायणपौषात्मकाय कालाय। शिशिरसहिताय माघफाल्गुनसहिताय ( ग्रीष्माय ) ज्येष्ठाषाढात्मकाय कालाय ॥

२३—( मृत्युः ) ( ईशे ) ईष्टे। शासको भवति ( द्विपदाम् ) पदद्वयोपेतानां मनुष्यपक्ष्यादीनाम् ( मृत्युः ) ( ईशे ) ( चतुष्पदाम् ) पदचतुष्टययुक्तानां

उस ( गोपतेः ) पृथिवी के स्वामी ( मृत्योः ) मृत्यु से ( त्वाम् ) तुझे ( उत् भरामि ) ऊपर उठाता हूं ( सः ) सो तू ( मा बिभेः ) मत भय कर ॥ २३ ॥

**भावार्थ**—ब्रह्मज्ञानी पुरुष प्रबल मृत्यु से निर्भय होकर विचरते रहते हैं ॥२३॥

**सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।**
**न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥**

सः । अरिष्ट । न । मरिष्यसि । न । मरिष्यसि । मा । बिभेः ॥
न । वै । तत्र । म्रियन्ते । नो इति । यन्ति । अधमम् । तमः ॥२४॥

**भाषार्थ**—( अरिष्ट ) हे निर्हानि ! ( सः ) सो तू ( न ) नहीं ( मरिष्यसि ) मरेगा, तू ( न ) नहीं ( मरिष्यसि ) मरेगा, ( मा बिभेः ) मत भयकर ! ( तत्र ) वहां पर [ कोई ] ( वै ) भी ( न ) नहीं ( म्रियन्ते ) मरते हैं, ( नो ) और नहीं ( अधमम् ) नीचे ( तमः ) अन्धकार में ( यन्ति ) जाते हैं ॥ २४ ॥

**भावार्थ**—जहां पर मनुष्य ब्रह्म का विचार करते रहते हैं [ देखो मन्त्र २५ ], वहां मृत्यु का भय नहीं होता ॥ २४ ॥

**सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।**
**यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥**

सर्वः । वै । तत्र । जीवति । गौः । अश्वः । पुरुषः । पशुः ॥
यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परि-धिः । जीवनाय । कम् ॥२५॥

---

गवाश्वादीनाम् ( तस्मात् ) प्रसिद्धात् ( त्वाम् ) मनुष्यम् ( मृत्योः ) मरणात् ( गोपतेः ) भूमिशासकात् ( उत् भरामि ) उद्धारयामि ( सः ) स त्वम् ( मा बिभेः ) भयं मा कुरु ॥

२४—( सः ) स त्वम् ( अरिष्ट ) हे निर्हाने ( न ) निषेधे ( मरिष्यसि ) प्राणान् त्यक्ष्यसि ( न ) ( मरिष्यसि ) ( मा बिभेः ) भीतिं मा कुरु ( न ) ( वै ) अवश्यम् ) ( तत्र ) ब्रह्मणि—मन्त्र २५ ( म्रियन्ते ) प्राणान् त्यजन्ति ( नो ) नैव ( यन्ति ) प्राप्नुवन्ति ( अधमम् ) नीचीनम् ( तमः ) अन्धकारम् ॥

भाषार्थ—( सर्वः ) ( सब ( वै ) ही ( तत्र ) वहां ( जीवति ) जीता रहता है, ( गौः ) गौ, ( अश्वः ) घोड़ा, ( पुरुषः ) पुरुष, और ( पशुः ) पशु [ हाथी ऊंट आदि ] । ( यत्र ) जहां पर ( इदम् ) यह [ प्रसिद्ध ] ( ब्रह्म ) ब्रह्म [ परमेश्वर ] ( जीवनाय ) जीवन के लिये ( कम् ) सुख से ( परिधिः ) कोट [ समान रक्षा साधन ] ( क्रियते ) बनाया जाता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्म के आश्रित रहते हैं, व जीवन्मुक्त होकर सब सुख भोगते हैं ॥ २५ ॥

इस मन्त्र का सम्बन्ध मन्त्र २३, २४ से है ॥

परि॑ त्वा पातु समा॒नेभ्यो॑ऽभिचा॒रात् सब॑न्धुभ्यः ।
अम॑म्रिर्भवा॒मृतो॑ऽतिजी॒वो मा ते॑ हासिषु॒रस॑वः॒ शरी॑रम् ॥२६॥

परि॑ । त्वा॒ । पा॒तु॒ । स॒मा॒नेभ्यः॑ । अ॒भि॒ऽचा॒रात् । सब॑न्धुऽभ्यः ॥
अम॑म्रिः । भ॒व॒ । अ॒मृतः॑ । अ॒ति॒ऽजी॒वः । मा । ते॒ । हा॒सि॒षुः॒ । अस॑वः । शरी॑रम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—वह [ ब्रह्म—म० २५ ] ( त्वा ) तुझ को ( अभिचारात् ) दुष्कर्म से ( सबन्धुभ्यः ) बन्धुओं सहित ( समानेभ्यः ) साथियों के [ हित के ] लिये ( परि ) सब प्रकार ( पातु ) बचावे । ( अमम्रिः ) विना मृत्युवाला,

२५—( सर्वः ) निःशेषः ( वै ) एव ( तत्र ) ब्रह्माश्रये ( जीवति ) प्राणान् धारयति ( गौः ) धेनुः ( अश्वः ) घोटकः ( पुरुषः ) मनुष्यः ( पशुः ) गजोष्ट्रादिः ( तत्र ) ( इदम् ) प्रसिद्धम् ( ब्रह्म ) परिवृढः परमात्मा ( परिधिः ) प्राकारो यथा रक्षासाधनम् ( जीवनाय ) प्राणधारणाय ( कम् ) सुखेन ॥

२—( परि ) सर्वतः ( त्वा ) त्वाम् ( पातु ) रक्षतु ( समानेभ्यः ) समानानां सदृशगुणस्वभावानां हिताय ( अभिचारात् ) विरुद्धाचरणात् । उपद्रवात् ( सबन्धुभ्यः ) बन्धुसहितेभ्यः ( अमम्रिः ) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० । ३ । २ । १७१ । मृङ् प्राणत्यागे—कि, नञ् समासः । अमरणशीलः (भव) ( अमृतः ) अमरः । पुरुषार्थी ( अतिजीवः ) उत्तरजीवी ( ते ) तव (मा हासिषुः) ओ हाक् त्यागे-लुङ् । मा त्यजन्तु ( असवः ) प्राणाः ( शरीरम् ) देहम् ॥

( अमृतः ) अमर, ( अतिजीवः ) उत्तर जीवी ( भव ) हो, ( ते ) तेरे (असवः) प्राण [ तेरे ] ( शरीरम् ) शरीर को ( मा हासिषुः ) न छोड़ें ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर का सहारा लेकर परोपकार करते हैं, वे ब्रह्मचारी अधिक जीकर अधिक उपकारी होते हैं ॥ २६ ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

ये । मृत्यवः । एक-शतम् । याः । नाष्ट्राः । अति-तार्याः ॥
मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि

भाषार्थ—[ हे मनुष्य ! ] ( ये ) जो ( एकशतम् ) एक सौ एक ( मृत्यवः ) मृत्युयें और ( याः ) जो ( नाष्ट्राः ) नाश करने वाली [ पीड़ायें ] ( अतितार्याः ) पार करने योग्य हैं । ( तस्मात् ) उस [ क्लेश ] से ( त्वाम् ) तुझ को ( देवाः ) [ तेरे ] उत्तम गुण ( वैश्वानरात् ) सब नरों के हितकारक ( अग्नेः ) अग्नि [ सर्व व्यापक परमेश्वर ] का आश्रय लेकर ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( मुञ्चन्तु ) छुड़ावें ॥ २७ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी योगीजन सर्वगुरु परमेश्वर के आश्रय से उत्तम कर्म करके शारीरिक और आत्मिक पीड़ायें छोड़कर आनन्द पाते हैं ॥ २७ ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥ (५)

अग्नेः । शरीरम् । असि । पारयिष्णु । रक्षः-हा । असि । सपत्न-हा ॥ अथो इति । अमीव-चातनः । पूतुद्रुः । नाम । भेषजम् २८(५)

२७—( ये ) ( मृत्यवः ) मृत्युहेतवो रोगादयः ( एकशतम् ) एकाधिकं शतम् । बहुसंख्याका इत्यर्थः ( याः ) ( नाष्ट्राः ) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६ । नाशयतेः—त्रन् । नाशयित्र्यः पीडाः ( अतितार्याः ) अतितरीतव्याः । लङ्घनीयाः ( मुञ्चन्तु ) मोचयन्तु ( तस्मात् ) क्लेशात् ( त्वाम् ) मनुष्यम् (देवाः) उत्तमगुणाः ( अग्नेः ) पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । अग्निं सर्वव्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य ( वैश्वानरात् ) सर्वनरहितमित्यर्थः ( अधि ) अधिकृत्य ॥

भाषार्थ—[ हे परमेश्वर ! ] तू ( अग्नेः ) अग्नि [तेज] का ( शरीरम् ) शरीर, ( पारयिष्णु ) पार लगाने वाला ( असि ) है, और ( रक्षोहा ) राक्षसों का नाश करने वाला, और ( सपत्नहा ) प्रतियोगियों का मारडालने वाला ( असि ) है। ( अथो ) और भी ( अमीवचातनः ) पीड़ा मिटाने वाला (पूतुद्रुः) शुद्धि पहुंचाने वाला ( नाम ) नाम का ( भेषजम् ) औषध है ॥ २८ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र इस सूक्त का उपसंहार है। मनुष्य तेजः स्वरूप परमात्मा की उपासना से अपने क्लेशों का नाश करें ॥ २८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

# अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

## सूक्तम् ३ ॥

१-२६ ॥ अग्निरक्षोहा देवता ॥ १-६, ८-१०, ११, १६, १८, २१, त्रिष्टुप्; ७, १२-१५, १७, भुरिक् त्रिष्टुप्; १६, २४ निचृत् त्रिष्टुप्, २० विराट् त्रिष्टुप् २२, २३, अनुष्टुप्; २५ पंचपदा बृहती गर्भा जगती; २६ गायत्री ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म । शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥

रक्षःहनम् । वाजिनम् । आ । जिघर्मि । मित्रम् । प्रथिष्ठम् । उप । यामि । शर्म ॥ शिशानः । अग्निः । क्रतुभिः । सम्-इद्धः ।

२८—( अग्नेः ) तेजसः ( शरीरम् ) स्वरूपम् ( असि ) ( पारयिष्णु ) अ० ५ । २८ । १४ । पारप्रापकं ब्रह्म ( रक्षोहा ) रक्षसां हन्ता परमेश्वरः ( सपत्नहा ) प्रतियोगिनां नाशकः ( अथो ) अपि च ( अमीवचातनः ) अ० १ । २८ । १ । रोगनाशकः ( पूतुद्रुः ) अर्तेश्च तु । उ० १ । ७२ । पूङ् शोधने-तु, स च कित् । हरिमितयोर्द्रुवः । उ० १ । ३४ । पूतु + द्रु गतौ-कु, स च डित् । शुद्धिप्रापकः परमेश्वरः ( नाम ) प्रसिद्धौ ( भेषजम् ) औषधम् ॥

सः । नः । दिवा । सः । रिषः । पातु । नक्तम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( रक्षोहणम् ) राक्षसों के मारने वाले, ( वाजिनम् ) महाबली, पुरुष को ( आ ) भली भांति ( जिघर्मि ) प्रकाशित [ प्रख्यात ] करता हूं, ( प्रथिष्ठम् ) अति प्रसिद्ध ( मित्रम् ) मित्र के पास ( शर्म ) शरण के लिये ( उप यामि ) मैं पहुंचता हूं। ( अग्निः ) अग्नि [ समान तेजस्वी राजा अपने ] ( क्रतुभिः ) कर्मों से ( शिशानः ) तीक्ष्ण किया हुआ और ( समिद्धः ) प्रकाशमान है, ( सः ) वह ( नः ) हमें ( दिवा ) दिन में, ( सः ) वह ( नक्तम् ) रात्रि में ( रिषः ) कष्ट से ( पातु ) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी, पराक्रमी, प्रजापालक राजा की कीर्त्ति को प्रजागण गाते रहते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १-२३ कुछ पद भेद और मन्त्र क्रम भेद से ऋग्वेद में है-१०।८७।१-२३॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् २

अयः-दंष्ट्रः । अर्चिषा । यातु-धानान् । उप । स्पृश । जात-वेदः । सम्-इद्धः ॥ आ । जिह्वया । मूर-देवान् । रभस्व । क्रव्य-अदः । वृष्ट्वा । अपि । धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( जातवेदः ) प्रसिद्ध ज्ञानवाले [ राजन् ! ] ( अयोदंष्ट्रः )

---

१—( रक्षोहणम् ) रक्षसां हन्तारम् ( वाजिनम् ) महाबलवन्तम् ( आ ) समन्तात् ( जिघर्मि ) घृ दीप्तौ। दीपयामि। प्रख्यापयामि ( मित्रम् ) सखायम् ( प्रथिष्ठम् ) पृथु-इष्ठन्। र ऋतो हलादेर्लघोः। पा० ६। ४। १६१। इति ऋकारस्य रः। टेः। ६। ४। १५५। टेर्लोपः। पृथुतमम्। अतिप्रसिद्धम् ( उपयामि ) उपगच्छामि ( शर्म ) शर्मणे। शरणाय ( शिशानः ) शो तनूकरणे—शानच्, शपः श्लौः, अभ्यासस्य इत्वम्, आत्वम्। तीक्ष्णीकृतः ( अग्निः ) अग्निवत्तेजस्वी राजा ( क्रतुभिः ) कर्मभिः—निघ० १। २ ( समिद्धः ) सम्यग् दीप्तः ( सः ) शूरः ( नः ) अस्मान् ( दिवा ) दिवसे ( सः ) ( रिषः ) रिष हिंसायाम्-क्विप्। कष्टात् ( पातु ) रक्षतु ( नक्तम् ) रात्रौ ॥

लोहसमान दांतवाला [ पुरुष ], (समिद्धः) प्रकाशमान तू ( अर्चिषा ) [अपने] तेज से ( यातुधानान् ) दुःखदायी जीवों को ( उप स्पृश ) पांवों से कुचल। ( जिह्वया ) [ अपनी ] जय शक्ति से ( मूरदेवान् ) मूढ़ [ बुद्धिहीन ] व्यवहार वालों को ( आ रभस्व ) पकड़ले, और ( वृष्ट्वा) पराक्रमी होकर तू ( क्रव्यादः ) मांस खानेवालों को ( आसन् ) [ फेंकने के स्थान ] कारागार में ( अपि धत्स्व ) बन्द करदे ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिमान्, बलवान् राजा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ३।

उभा। उभयाविन्। उप। धेहि। दंष्ट्रौ। हिंस्रः। शिशानः। अवरम्। परम्। च॥ उत। अन्तरिक्षे। परि। याहि। अग्ने। जम्भैः। सम्। धेहि। अभि। यातु-धानान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( उभयाविन् ) हे पूर्ति की रक्षा करने वाले ! तू [ शत्रुओं [ का ( हिंस्रः ) नाश करनेवाला और ( शिशानः ) तीक्ष्ण होकर ( अवरम् )

---

२—( अयोदंष्ट्रः ) लोहवद्दन्तोपेतः ( अर्चिषा ) स्वतेजसा ( यातुधानान् ) पीडाप्रदान् पुरुषान् ( उप स्पृश ) उपपूर्वकः स्पृश पादैर्मर्दने। पादैश्चूर्णीकुरु ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धप्रज्ञ ( समिद्धः ) प्रकाशितः ( जिह्वया ) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १। १५४। जि जये—वन्, धोतोर्हुक्। जयशक्त्या ( मूरदेवान् ) रस्य ढः। दिवु व्यवहारे-अच्। मूरा अमूर न वयम्...मूढा वयं स्मऽमूढस्त्वमसि—निरु० ६। ८। मूढव्यवहारान्। मन्दबुद्धिव्यवहारयुक्तान् ( आ रभस्व ) सम्यग् गृहाण ( क्रव्यादः ) मांसभक्षकान् ( वृष्ट्वा ) वृष शक्तिबन्धने पराक्रमे च। पराक्रमी भूत्वा ( अपि धत्स्व ) बधान ( आसन् ) अस्यते क्षिप्यतेऽत्र आस्यम्। असु क्षेपणे—ण्यत्। पद्न्नोमास्०पा० ६। १। ६३। आसन् आदेशः। आस्नि। क्षेपणस्थाने। कारागारे॥

३—( उभा ) द्वौ ( उभयाविन् ) वलिमलितनिभ्यः कयन्। उ० ४। ९९। उभ पूर्तौ—कयन्। सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये। पा० ३। २। ७८। उभय + अव

नीचे के ( च ) और ( परम् ) ऊपर के ( उभा ) दोनों ( दंष्ट्रौ ) दांतों को ( उप धेहि ) काम में ला। ( उत ) और ( अग्ने ) हे अग्नि [ समान प्रतापी राजन् ! ] ( अन्तरिक्षे ) आकाश में [ विमान से हमारे ] ( परि ) आस पास ( याहि ) विचर, ( यातुधानान् अभि ) दुःखदायी दुर्जनों पर ( जम्भैः ) दांतों [ दंतीले तेज हथियारों ] से ( सम् धेहि ) लक्ष्य कर [ वेधले ] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुर्जनों को इस प्रकार दबाकर रक्खे जैसे दांतों के बीच वस्तु को दबा लेते हैं और आकाश मार्ग से सावधानी रखकर दुष्टों का नाश करे ॥ ३ ॥

**अग्ने॒ त्वचं॑ यातु॒धान॑स्य भिन्धि हिं॒स्राशनि॒र्हर॑सा हन्त्वेनम्। प्र पर्वा॑णि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्र॑वि॒ष्णुर्वि चि॑नोत्वेनम् ॥ ४ ॥**

**अग्ने॑। त्वच॑म्। या॒तु॒ऽधान॑स्य। भि॒न्धि॒। हिं॒स्रा। अ॒शनिः॑। हर॑सा। ह॒न्तु॒। ए॒न॒म्॥ प्र। पर्वा॑णि। जा॒त॒ऽवे॒दः॒। शृ॒णी॒हि॒। क्र॒व्य॒ऽअत्। क्र॒वि॒ष्णुः। वि। चि॒नो॒तु॒। ए॒न॒म् ॥ ४ ॥**

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( यातुधानस्य ) दुःखदायी दुष्ट की ( त्वचम् ) खाल ( भिन्धि ) उजाड़ दे; [ तेरी ] ( हिंस्रा ) वध करनेवाली ( अशनिः ) बिजुली [ बिजुली का वज्र ] ( हरसा )

रक्षणे—णिनि। हे पूर्तिरक्षक ( उप धेहि ) उपयोगय ( दंष्ट्रौ ) दन्तौ ( हिंस्रः ) शत्रुनाशकः ( शिशानः ) म० १। तीक्ष्णीकृतः ( अवरम् ) अधोवर्तमानं दंष्ट्रम् ( परम् ) उपरि वर्तमानम् ( च ) ( उत ) अपि ( अन्तरिक्षे ) आकाशे विमानेन ( परि ) सर्वतः ( याहि ) संचर ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( जम्भैः ) जभि नाशने—घञ्। नाशकर्मभिः। दन्तयुक्तायुधैः ( संधेहि ) लक्ष्यीकुरु ( अभि ) अभिलक्ष्य ( यातुधानान् ) पीड़ादायकान् ॥

४—( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( त्वचम् ) अ०१। २३। ४। चर्म ( यातुधानस्य ) पीडाप्रदस्य ( हिंस्रा ) हिंसिका ( अशनिः ) विद्युत्। वज्रः ( हरसा ) तेजसा-निरु० ५। १२ ( हन्तु ) नाशयतु ( प्र ) प्रकर्षेण ( पर्वाणि )

अपने तेज से ( एनम् ) इस [ अत्याचारी ] को ( हन्तु ) मारे। ( जातवेदः ) हे महाधनी राजन्! [ उसके ] ( पर्वाणि ) जोड़ों को ( प्र शृणीहि ) कुचल डाल, ( क्रव्यात् ) मांस खानेवाला, ( क्रविष्णुः ) भयंकर [ सिंह, गीदड़, गिद्ध आदि जीव ] ( एनम् ) इसको ( वि चिनोतु ) चींथ डाले ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को बिजुली वा अग्नि के हथियारों से कठिन दण्ड देकर विनाश करदे ॥ ४ ॥

यत्रे॒दानीं॒ पश्य॑सि जातवेद॒स्तिष्ठ॑न्तमग्न उ॒त वा॒ चर॑न्तम्।
उ॒तान्तरि॑क्षे॒ पत॑न्तं यातु॒धानं॒ तमस्ता॑ विध्य॒ शर्वा॒ शिशा॑नः ॥५॥

यत्र॑। इ॒दानी॑म्। पश्य॑सि। जा॒त॒ऽवे॒दः॒। तिष्ठ॑न्तम्। अग्ने॑। उ॒त। वा॒। चर॑न्तम् ॥ उ॒त। अ॒न्तरि॑क्षे। पत॑न्तम्। या॒तु॒ऽधान॑म्। तम्। अस्ता॑। वि॒ध्य॒। शर्वा॑। शिशा॑नः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( जातवेदः ) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले ! ( अग्ने ) हे अग्नि [ समान प्रतापी राजन्!] ( यत्र ) जहां कहीं ( इदानीम् ) अब ( तिष्ठन्तम् ) खड़े हुये, ( उत ) और ( वा ) अथवा ( चरन्तम् ) घूमते हुये ( उत ) और ( अन्तरिक्षे ) आकाश में [ विमान आदि से ] ( पतन्तम् ) उड़ते हुये ( यातुधानम् ) दुःखदायी जन को ( पश्यसि ) तू देखता है, ( शिशानः ) तीक्ष्ण-स्वभाव, ( अस्ता ) बाण चलाने वाला तू ( शर्वा ) बाण वा वज्र से ( तम् ) उसे ( विध्य ) वेध ले ॥ ५ ॥

---

शरीरग्रन्थीन् ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धधन ( शृ णीहि ) मर्दय ( क्रव्यात् ) मांस-भक्षकः ( क्रविष्णुः ) ग्लेश्छन्दसि। पा० ३।२।१३७। क्नूञ भये, णिच्—इष्णुच्, लस्य रः, णिलोपश्छान्दसः। क्नावयिष्णुः। भयङ्करो जन्तुः ( वि चिनोतु ) आकृष्य विप्रकीर्णं करोतु ( एनम् ) दुष्टम् ॥

५—( यत्र ) ( इदानीम् ) ( पश्यसि ) निरीक्षसे ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धज्ञान ( तिष्ठन्तम् ) स्थितिं कुर्वन्तम् ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( उत ) अपि ( वा ) अथवा ( चरन्तम् ) गच्छन्तम् ( उत ) ( अन्तरिक्षे ) आकाशे ( पतन्तम् ) उड्डीयमानम् ( यातुधानम् ) दुःखप्रदं जनम् ( तम् ) ( अस्ता ) बाणानां क्षेप्ता ( विध्य ) ताडय ( शर्वा ) शरुणा। बाणेन वज्रेण वा ( शिशानः )-म० १। तीक्ष्णस्वभावः ॥

भावार्थ—राजा पृथिवी, समुद्र और आकाश के उपद्रवियों का नाश करके प्रजा को पाले ॥ ५ ॥

य॒ज्ञैरिषूः॑ सं॒नम॑मानो अग्ने वा॒चा श॒ल्याँ अ॒शनि॑भि॒र्दिहा॒नः। ताभि॑र्विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् प्र॒तीचो॑ बा॒हून् प्रति॑ भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

य॒ज्ञैः। इषूः॑। स॒म्ऽनम॑मानः। अग्ने॑। वा॒चा। श॒ल्यान्। अ॒शनि॑ऽभिः। दि॒हा॒नः॥ ताभिः॑। वि॒ध्य॒। हृद॑ये। या॒तु॒ऽधाना॑न्। प्र॒तीचः॑। बा॒हून्। प्रति॑। भ॒ङ्ग्धि॒। ए॒षा॒म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( वाचा ) वाणी [ विद्या ] द्वारा ( यज्ञैः ) संयोग वियोग व्यवहारों से ( इषूः ) बाणों को ( संनममानः ) सीधा करता हुआ, और ( अशनिभिः ) बिजुलियों से (शल्यान्) [ उनके ] शिरों को ( दिहानः ) पोतता हुआ [ तीक्ष्ण करता हुआ ] तू ( ताभिः ) उन [ बाणों ] से ( यातुधानान् ) दुःखदायी जनों को ( हृदये ) हृदय में ( विध्य ) वेधले और ( एषाम् ) उनकी ( बाहून् ) भुजाओं को ( प्रतीचः ) उलटा करके ( प्रति भङ्ग्धि ) तोड़ दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा अपने शस्त्र अस्त्रों को बिजुली आदि के प्रयोग से तीक्ष्ण रखकर शत्रुओं को मारे ॥ ६ ॥

उ॒तार॑ब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उ॒तारे॑भा॒णाँ ऋ॒ष्टिभि॑र्यातु॒धाना॑न्। अग्ने॒ पूर्वो॒ नि ज॑हि॒ शोशु॑चान आ-

६—( यज्ञैः ) संयोगवियोगव्यवहारैः ( इषूः ) बाणान् ( संनममानः ) ऋजूकुर्वन् ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् ( वाचा ) वाण्या। विद्यया ( शल्यान् ) बाणाग्राणि ( अशनिभिः ) विद्युत्प्रयोगैः ( दिहानः ) दिग्धान् कुर्वन् ( ताभिः ) इषुभिः ( विध्य ) ताडय ( यातुधानान् ) पीडाप्रदान् ( प्रतीचः ) प्रतिमुखान् कृत्वा ( बाहून् ) भुजान् ( प्रति ) प्रतिकूलम् (भङ्ग्धि) भञ्जो आमर्दने। आमर्दय ( एषाम् ) यातुधानानाम् ॥ ७ ॥

मादः क्षिवङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

उत । आ-रब्धान् । स्पृणुहि । जात-वेदः । उत । आ-रे-भाणान् । ऋष्टिभिः । यातु-धानान् ॥ अग्ने । पूर्वः । नि । जहि । शोशुचानः । आम-अदः । क्ष्विङ्काः । तम् । अदन्तु । एनीः ७

भाषार्थ—( उत ) और ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धधन वाले राजन् ! ( आरब्धान् ) [ शत्रुओं करके ] पकड़े हुओं को ( स्पृणुहि ) पाल ( उत ) और ( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( पूर्वः ) सब से पहिले और ( शोशुचानः ) अति प्रकाशमान तू ( आरेभाणान् ) [ हमें ] पकड़ने वाले ( यातुधानान् ) दुःखदायियों को ( ऋष्टिभिः ) दो धारा तरवारों से ( नि जहि ) मार डाल, ( आमादः ) मांस खानेवाली ( एनीः ) चितकबरी, ( क्ष्विङ्काः ) अव्यक्त शब्द बोलने वाली [ चील आदि पक्षी ] ( तम् ) हिंसक चोर को ( अदन्तु ) खा जावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के पालने और वैरियों के मारने में सदा उद्यत रहे ॥ ७ ॥

---

७—( उत ) अपि च ( आरब्धान् ) रभ उपक्रमे-क्त । शत्रुभिर्गृहीतान् ( स्पृणुहि ) स्पृ पालने । पालय ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धधन राजन् ( उत ) ( आरेभाणान् ) रभ उपक्रमे-कानच् । अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि । पा० ६ । ४ । १२० । अकारस्य एत्वम्, अभ्यासलोपश्च । ग्रहणशीलान् ( ऋष्टिभिः ) ऋषी गतौ—क्तिन् । उभयतो धारयुक्तैः खड्गैः ( यातुधानान् ) पीडाप्रदान् ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( पूर्वः ) अग्रगामी ( नि ) निरन्तरम् ( जहि ) मारय ( शोशुचानः ) अ० ४ । ११ । ३ । भृशं दीप्यमानः ( आमादः ) मांसाशनाः ( क्ष्विङ्काः ) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । ञि क्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः, अव्यक्त-शब्दे च-इण्, स च डित् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । क्ष्वि + कै शब्दे-क । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इत्यलुक् । चिल्लादिपक्षिणः ( तम् ) तर्द हिंसने—ड । हिंसकं चोरम् ( अदन्तु ) भक्षयन्तु ( एनीः ) अ० ६ । ८३ । २ । कर्बुरवर्णाः ॥

इह प्र ब्रू॑हि यत॒मः सो अ॑ग्ने यातु॒धानो॒ य इ॒दं कृ॒णोति॑ ।
तमा र॑भस्व स॒मिधा॑ यविष्ठ नृ॒चक्ष॑स॒श्चक्षु॑षे रन्धयैनम् ॥८॥

इ॒ह । प्र । ब्रू॒हि॒ । य॒त॒मः । सः । अ॒ग्ने॒ । या॒तु॒-धानः॑ । यः । इ॒दम् । कृ॒णोति॑ ॥ तम् । आ । र॒भ॒स्व॒ । स॒म्-इधा॑ । य॒वि॒ष्ठ॒ । नृ॒-चक्ष॑सः । चक्षु॑षे । र॒न्ध॒य॒ । ए॒न॒म् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( इह ) यहां पर ( प्र ब्रूहि ) बतला दे, ( यतमः ) जो कोइ ( सः ) वह ( यातुधानः ) दुःखदायी, [ है ] ( यः ) जो ( इदम् ) यह [ दुष्कर्म ] (कृणोति) करता है । (यविष्ठ) हे बलिष्ठ ! ( तम् ) उसे ( समिधा ) [ अपने ] तेज से ( आ रभस्व ) पकड़ ले, और ( निर्चक्षसः ) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले की [ अर्थात् अपनी ] ( चक्षुषे ) दृष्टि के लिये ( एनम् ) उसे ( रन्धय ) आधीन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा प्रसिद्ध दुराचारियों को पकड़ कर दृष्टिगोचर रखकर उनका वृत्तान्त जानता रहे ॥ ८ ॥

ती॒क्ष्णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा रक्ष य॒ज्ञं प्राञ्चं॒ वसु॑भ्यः॒ प्र ण॑य प्रचेतः । हिं॒स्रं रक्षां॑स्य॒भि शोशु॑चानं॒ मा त्वा॑ दभन् यातु॒धाना॑ नृचक्षः ॥ ९ ॥

ती॒क्ष्णेन॑ । अ॒ग्ने॒ । चक्षु॑षा । र॒क्ष॒ । य॒ज्ञम् । प्राञ्च॑म् । वसु॑-भ्यः । प्र । न॒य॒ । प्र॒-चे॒तः॒ ॥ हिं॒स्रम् । रक्षां॑सि । अ॒भि । शोशु॑चानम् । मा । त्वा॒ । द॒भ॒न् । या॒तु॒-धानाः॑ । नृ॒-च॒क्षः॒ ॥ ९ ॥

८—( इह ) अस्मिन् समाजे ( प्र ब्रूहि ) विज्ञापय ( यतमः ) तेषां मध्ये यः कश्चित् ( सः ) ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( यातुधानः ) ( यः ) ( इदम् ) दुष्कर्म ( कृणोति ) करोति ( तम् ) पापिनम् ( आ रभस्व ) निगृहाण ( समिधा ) स्वतेजसा ( यविष्ठ ) हे युवतम बलिष्ठ ( नृचक्षसः ) मनुष्याणां द्रष्टुः ( चक्षुषे ) दर्शनाय ( रन्धय ) अ० ४ । २२ । १ । वशीकुरु ( एनम् ) दुष्टम् ॥

**भाषार्थ**—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान प्रतापी राजन् ! ] ( तीक्ष्णेन चक्षुषा ) तीक्ष्ण दृष्टि से ( प्राञ्चम् ) श्रेष्ठ ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहार की ( रक्ष ) रक्षा कर, ( प्रचेतः ) हे दूरदर्शी [ राजन् ! ] ( वसुभ्यः ) धनों के लिये [ हमें ] ( प्र णय ) आगे बढ़ा। ( नृचक्षः ) हे मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले ! ( रक्षांसि अभि ) राक्षसों पर ( हिंस्रम् ) हिंसा करने वाले और ( शोशुचानम् ) अति प्रकाशमान ( त्वा ) तुझ को ( यातुधानाः ) दुःखदायी लोग ( मा दभन् ) न सतावें ॥ ६ ॥

**भावार्थ**—जो प्रतापी दूरदर्शी राजा उत्तम व्यवहारों की रक्षा करके अपना और प्रजा का धन बढ़ाता है, उसे शत्रु नहीं सता सकते ॥ ६ ॥

**नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा । तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥ ( ६ )**

**नृ-चक्षाः । रक्षः । परि । पश्य । विक्षु । तस्य । त्रीणि । प्रति । शृणीहि । अग्रा ॥ तस्य । अग्ने । पृष्टीः । हरसा । शृणीहि । त्रेधा । मूलम् । यातु-धानस्य । वृश्च ॥ १० ॥ ( ६ )**

**भाषार्थ**—( नृचक्षाः ) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला तू ( रक्षः ) राक्षस को ( विक्षु ) मनुष्यों के बीच ( परि पश्य ) जांच कर देख, ( तस्य ) उसके ( त्रीणि ) तीन ( अग्रा ) अग्रभाग [मस्तक और दो कंधे] (प्रति शृणीहि)

६—( तीक्ष्णेन ) क्रूरेण (अग्ने) (चक्षुषा) दृष्ट्या ( रक्ष ) पालय ( यज्ञम् ) पूजनीयं व्यवहारम् ( प्राञ्चम् ) प्रगतम् । श्रेष्ठम् (वसुभ्यः) धनानां लाभाय ( प्र णय ) प्रगमय ( प्रचेतः ) दूरदर्शिन् राजन् ( हिंस्रम् ) हिंसकम् ( रक्षांसि ) राक्षसान् ( अभि ) प्रति ( शोशुचानम् ) भृशं दीपयन्तम् ( मा दभन् ) मा हिंसिषुः ( त्वा ) त्वाम् ( यातुधानाः ) राक्षसाः ( नृचक्षः ) हे मनुष्याणां द्रष्टः ॥

१०—( नृचक्षाः ) नृणां द्रष्टा ( रक्षः ) दुष्टम् ( परि ) सर्वतः ( पश्य ) अवलोकय ( विक्षु ) मनुष्येषु । विशो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । (तस्य ) (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि ( प्रति ) प्रत्यक्षम् ( शृणीहि ) नाशय ( अग्रा ) अग्राणि । शिरः

तोड़ दे। ( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( तस्य ) उसकी ( पृष्टीः ) पसलियों ( हरसा ) बल से ( शृणीहि ) कुचल डाल, ( यातुधानस्य ) दुःखदायी की ( मूलम् ) जड़ को ( त्रेधा ) तीन प्रकार से [ दोनों जंघा और कटिभाग से ] ( वृश्च ) काट दे ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवियों को दण्ड देने में सदा कठोर हृदय रहे ॥१०

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ११

त्रिः। यातु-धानः। प्र-सितिम्। ते। एतु। ऋतम्। यः। अग्ने। अनृतेन। हन्ति ॥ तम्। अर्चिषा। स्फूर्जयन्। जात-वेदः। सम्-अक्षम्। एनम्। गृणते। नि। युङ्ग्धि ॥११॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान प्रतापी राजन् ! ] ( यातुधानः ) वह दुःखदायी पुरुष ( त्रिः ) तीन बार ( ते ) तेरी ( प्रसितिम् ) बेड़ी को ( एतु ) प्राप्त हो, ( यः ) जो ( ऋतम् ) सत्य को ( अनृतेन ) असत्य से ( हन्ति ) तोड़ता है। ( जातवेदः ) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले [ राजन् ! ] ( अर्चिषा ) अपने तेज से ( तम् स्फूर्जयन् ) उस पर गरजता हुआ तू ( समक्षम् ) सब के सन्मुख ( एनम् ) इस [ शत्रु ] को ( गृणते ) स्तुति करने वाले के [ हित के ] लिये ( नि युङ्ग्धि ) बांध ले ॥ ११ ॥

---

स्कन्धद्वयं च ( तस्य ) ( अग्ने ) ( पृष्टीः ) पार्श्वास्थीनि ( शृणीहि ) ( त्रेधा ) त्रिप्रकारेण। जङ्घाद्वयं कटिभागं च ( मूलम् ) शरीरस्य नीचभागम् ( यातुधानस्य ) ( वृश्च ) छिन्धि ॥

११—( त्रिः ) त्रिवारम् ( यातुधानः ) पीडाप्रदः ( प्रसितिम् ) प्र+षिञ् बन्धने—क्तिन्। प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा—निरु० ६। १२। बन्धनम् ( ते ) तव ( एतु ) प्राप्नोतु ( ऋतम् ) सत्यनियमम् ( यः ) ( अग्ने ) तेजस्विन् राजन् ( अनृतेन ) मिथ्याकथनेन ( हन्ति ) नाशयति ( तम् ) दुष्टम् ( अर्चिषा ) तेजसा ( स्फूर्जयन् ) स्फुर्ज वज्रशब्दे—शतृ। गर्जयन् ( जातवेदः ) हे प्रसिद्ध-

भावार्थ—राजा चोर डाकू आदि दुष्टों को प्रजा के हित के लिये यथावत् दण्ड देवे ॥ ११ ॥

"( त्रिः ) तीन बार" से प्रयोजन ऊपर, नीचे और मध्य भाग है, देखो अ० ७। ८३। ३॥

यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो॒ यद्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः। म॒न्योर्मन॑सः शर॒व्या॒३ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥ १२ ॥

यत्। अ॒ग्ने॒। अ॒द्य। मि॒थु॒ना। शपा॑तः। यत्। वा॒चः। तृ॒ष्टम्। ज॒नय॑न्त। रे॒भाः ॥ म॒न्योः। मन॑सः। श॒र॒व्या॑। जाय॑ते। या। तया॑। वि॒ध्य॒। हृद॑ये। या॒तु॒-धाना॑न् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( यत् ) जो ( अद्य ) आज ( मिथुना ) दो हिंसक मनुष्य [ सत्पुरुषों से ] ( शपातः ) कुवचन बोलते हैं, और ( यत् ) जो ( रेभाः ) शब्द करने वाले [ शत्रु लोग ] ( वाचः ) वाणी की ( तृष्टम् ) कठोरता ( जनयन्त ) उत्पन्न करते हैं ( मन्योः ) क्रोध से ( मनसः ) मन की ( या ) जो ( शरव्या ) बाणों की झड़ी। ( जायते ) उत्पन्न होती है, ( तया ) उससे ( यातुधानान् ) दुःखदायियों को ( हृदये ) हृदय में ( विध्य ) बेधले ॥ १२ ॥

भावार्थ—राजा दुर्वचन भाषियों को विचार पूर्वक दण्ड देता रहे ॥ १२

ज्ञान ( समक्षम् ) प्रत्यक्षम् ( एनम् ) शत्रुम् ( गृणते ) स्तोत्रं कुर्वते ( नियुङ्ग्धि ) युज संयमने, चुरादिः, रुधादित्वं छान्दसम्। नियोजय। बधान ॥

१२—( यत् ) ( अग्ने ) ( अद्य ) अस्मिन् दिने ( मिथुना ) अ० ६। १४१। २। मिथृ वधे—उनन्। हिंसकौ ( शपातः ) शपतः ( यत् ) ( वाचः ) वाण्याः ( तृष्टम् ) ञि तृषा पिपासायाम्—भावे क्त। तृष्णाम्। कटुत्वमित्यर्थः ( जनयन्त ) जनयन्ति। उत्पादयन्ति ( रेभाः ) रेभृ शब्दे—अच्। शब्दायमानाः शत्रवः ( मन्योः ) क्रोधात् ( मनसः ) अन्तःकरणस्य ( शरव्या ) अ० १। १६। १ । शरु-यत्। बाणसंहतिः ( जायते ) उत्पद्यते ( या ) ( तया ) ( विध्य ) ताडय ( हृदये ) ( यातुधानान् ) पीडाप्रदान् ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि । परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

परा । शृणीहि । तपसा । यातु-धानान् । परा । अग्ने । रक्षः । हरसा । शृणीहि ॥ परा । अर्चिषा । मूर-देवान् । शृणीहि । परा । असु-तृपः । शोशुचतः । शृणीहि ॥ १३ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( तपसा ) अपने तप [ ऐश्वर्य वा प्रताप ] से ( यातुधानान् ) दुःखदायिओं को ( परा शृणीहि ) कुचल डाल, ( रक्षः ) राक्षसों [ दुराचारियों वा रोगों ] को ( हरसा ) अपने बल से ( परा शृणीहि ) मिटा दे । ( अर्चिषा ) अपने तेज से ( मूरदेवान् ) मूढ़ [ निर्बुद्धि ] व्यवहार वालों को ( परा शृणीहि ) नाश करदे, ( शोशुचतः ) अत्यन्त दमकते हुये, ( असुतृपः ) [ दूसरों के ] प्राणों से तृप्त होने वालों को ( परा शृणीहि ) चूर चूर कर दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा अत्यन्त क्लेशदायक प्राणियों के नाश करने में सदा उद्यत रहे ॥ १३ ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः । वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥ १४ ॥

---

१३—( परा शृणीहि ) सर्वथा विनाशय ( तपसा ) तापकेन तेजसा । ऐश्वर्येण । प्रतापेन ( यातुधानान् ) दुःखदायकान् ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( रक्षः ) बहुवचनस्यैकवचनम् । रक्षांसि । रोगान् दुष्टप्राणिनो वा ( हरसा ) बलेन ( परा शृणीहि ) विमर्दय ( अर्चिषा ) तेजसा ( मूरदेवान् ) मंत्र २ । निर्बुद्धिव्यवहारयुक्तान् ( असुतृपः ) असुभिः परप्राणैरात्मानं तर्पयन्तः प्राणिनः ( शोशुचतः ) शुच दीप्तौ यङ्लुकि—छान्दसः शतृ । शोशुचानान् भृशं देदीप्यमानान् ( परा शृणीहि ) चूर्णीकुरु ॥

परा । अद्य । देवाः । वृजिनम् ॥ शृणन्तु । प्रत्यक् । एनम् । शपथाः । यन्तु । सृष्टाः ॥ वाचा-स्तेनम् । शरवः । ऋच्छन्तु । मर्मन् । विश्वस्य । एतु । प्र-सितिम् यातु-धानः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) विजय चाहने वाले शूर ( अद्य ) आज ( वृजिनम् ) पापी को ( परा शृणन्तु ) कुचल डालें, ( सृष्टाः ) [ उसके ] छोड़े हुये [ कहे हुये ] ( शपथाः ) कुवचन ( एनम् ) उसको ( प्रत्यक् ) प्रतिकूल गति से ( यन्तु ) पहुंचें । ( शरवः ) [ हमारे ] तीर ( वाचास्तेनम् ) वतचोर [ छली ] पुरुष को ( मर्मन् ) मर्मस्थान में ( ऋच्छन्तु ) प्राप्त होवें, ( विश्वस्य ) सब में प्रवेश करने वाले राजा की ( प्रसितिम् ) बेड़ी को ( यातुधानः ) दुःखदायी ( एतु ) पावे ॥ १४ ॥

भावार्थ—वीर राजा मिथ्यावादी, चोर, डाकुओं को दण्ड देकर नाश कर दे ॥ १४ ॥

मांसभक्षकस्य शिरश्छेदनोपदेशः—मांस भक्षक के शिर काटने का उपदेश ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः । यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरुषेयेण । क्रविषा । सम्-अङ्क्ते । यः । अश्व्येन ।

---

१४—( अद्य ) अस्मिन् दिने ( देवाः ) विजिगीषवः शूराः ( वृजिनम् ) अ० १।१०।३। पापिनम् । वक्रस्वभावम् (पराशृणन्तु) दूरे नाशयन्तु (प्रत्यक्) प्रतिकूलगत्या ( एनम् ) वृजिनम् ( शपथाः ) कुवचनानि ( यन्तु ) प्राप्नुवन्तु ( सृष्टाः ) त्यक्ताः । उच्चारिताः ( वाचास्तेनम् ) मृषावचनेन हर्तारम् (शरवः) बाणाः ( ऋच्छन्तु ) ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । प्राप्नुवन्तु ( मर्मन् ) अ० ५।८।६। जीवमरणस्थाने ( विश्वस्य ) अशूप्रुषिलटि० । उ० १।१५१। विश प्रवेशने—क्वन् । सर्वत्र प्रवेशकस्य राज्ञः ( एतु ) गच्छतु ( प्रसितिम् ) म० ११। निगडम् । शृङ्खलाम् ( यातुधानः ) दुःखदायकः ॥

पशुना । यातु-धानः ॥ यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि । हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (यातुधानः) दुःखदायी जीव (पौरुषेयेण) पुरुष वध से [प्राप्त] (क्रविषा) मांस से, (यः) जो (अश्व्येन) घोड़े के [मांस से] और (पशुना) [दूसरे] पशु से (समङ्क्ते) [अपने को] पुष्ट करता है। और (यः) जो (अघ्न्यायाः) [नहीं मारने योग्य] गौ के (क्षीरम्) दूध को (भरति=हरति) नष्ट करता है, (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन्!] (तेषाम्) उनके (शीर्षाणि) शिरों को (हरसा) अपने बल से (अपि वृश्च) काट डाल॥ १५॥

भावार्थ—जो कोई पुरुष, मनुष्य वा घोड़े वा अन्य पशु का मांस खावे वा गौ को मारकर दूध को घटावे, राजा उसका शिर कटवा दे ॥ १५ ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः । परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातु-धानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् । अदितये । दुः-एवाः ॥ परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओषधीनाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

१५—(यः) राक्षसः (पौरुषेयेण) अ० ७। १०५। १। पुरुषवधेन प्राप्तेन (क्रविषा) अर्चिशुचिहु०। उ० २। १०८। क्रव वधे—इसि। मांसेन (समङ्क्ते) सम्पूर्वकः अञ्जू भरणे भक्षणे च। आत्मानं पोषयति (यः) (अश्व्येन) भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। अश्व—यत्। अश्वसम्बन्धिना क्रविषा (पशुना) अजादिप्राणिना (यातुधानः) दुःखदायकः (यः) (अघ्न्यायाः) अ० ३। ३०। १। अहन्तव्याया गोः (भरति) हस्य भः। हरति नाशयति (क्षीरम्) दुग्धम् (अग्ने) (तेषाम्) यातुधानानाम् (शीर्षाणि) शिरांसि (हरसा) बलेन (अपि वृश्च) सर्वथा छिन्धि ॥

भाषार्थ—(यातुधानाः) दुःखदायी जन [जो] (गवाम्) गौओं का (विषम्) जल (भरन्ताम्=हरन्ताम्) बिगाड़ें, [तो वे] (दुरेवाः) दुराचारी लोग (अदितये) अखण्ड नीति के लिये (आ) सर्वथा (वृश्चन्ताम्) काट दिये जावें। (देवः) व्यवहार जानने वाला (सविता) सर्व प्रेरक राजा (एनान्) उनको (परा ददातु) दूर हटावे, और वे [राजपुरुष] उनके (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न आदि वस्तुओं] के (भागम्) भाग को (परा जयन्ताम्) जीत लेवें॥ १६॥

भावार्थ—जो दुराचारी लोग गौ घाट आदि स्थानों को नष्ट करें, राजा उनको नीति अनुसार दण्ड देवे॥ १६॥

सं॒व॒त्स॒रीणं॒ पय॑ उ॒स्रिया॑या॒स्तस्य॒ माशी॑द् यातु॒धानो॑ नृचक्षः। पी॒यूष॑मग्ने य॒त॒मस्तितृ॑प्सा॒त् तं प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ विध्य॒ मर्म॑णि॥ १७॥

स॒म्-व॒त्स॒रीण॑म्। पय॑ः। उ॒स्रिया॑याः। तस्य॑। मा। आ॒शी॒त्। या॒तु-धान॑ः। नृ-च॒क्षः॥ पी॒यूष॑म्। अग्ने॑। य॒त॒मः। तितृ॑प्सात्। तम्। प्र॒त्यञ्च॑म्। अ॒र्चिषा॑। वि॒ध्य॒। मर्म॑णि॥ १७॥

१६—(विषम्) विष्लृ व्याप्तौ-क। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। वि+ष्णा शौचे-ड। णलोपः, यद्वा, षच सेवने-ड। विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य, विपूर्वस्य वा सचतेः—निरु० १२। २६। जलम् (गवाम्) धेनूनाम् (यातुधानाः) दुःखदायिनः (भरन्ताम्) हरन्ताम्। नाशयन्तु (आ) समन्तात् (वृश्चन्ताम्) यकारलोपः। वृश्च्यन्ताम्। छिन्ना भवन्तु (अदितये) अ० २। २८। ४। अदितिः=वाक्—निघ० १। ११। अखण्डायै नीतये (दुरेवाः) अ० ७। ५०। ७। दुष्टगतियुक्ताः (परा ददातु) निरस्यतु (एनान्) दुष्टान् (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) सर्वप्रेरको राजा (भागम्) अंशम् (ओषधीनाम्) व्रीहियवादीनाम् (परा जयन्ताम्) जयेन गृह्णन्तु राजपुरुषाः॥

भाषार्थ—( उस्रियायाः ) गौ का [ हमारे ] ( संवत्सरीणम् ) निवास-स्थान में उपस्थित [ जो ] ( पयः ) दूध है, ( नृचक्षः ) हे मनुष्यों पर दृष्टि रखनेवाले राजन् ! ( यातुधानः ) दुःखदायी जन ( तस्य ) उसका ( मा आशीत् ) न भोजन करे। ( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( यतमः ) जो कोई [उनमें से हमारे] ( अमृतम् ) अमृत [ अन्न दुग्ध आदि से ] ( तितृप्सात् ) पेट भरना चाहे, ( तम् प्रत्यञ्चम् ) उस प्रतिकूलवर्ती को ( अर्चिषा ) अपने तेज से ( मर्मणि ) मर्मस्थान में ( विध्य ) छेद ले ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा सावधानी रक्खे कि कोई दुष्ट जन प्रजा के पदार्थों को न हड़प जावे ॥ १७ ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः । सहमूरानन दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातु-धानान् । न । त्वा । रक्षांसि । पृतनासु । जिग्युः ॥ सह-मूरान् । अनु । दह । क्रव्य-अदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत । दैव्यायाः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे विद्वान् राजन् ! तू ( यातुधानान् ) पीड़ा देने वाले [ प्राणियों वा रोगों ] को ( सनात् ) नित्य ( मृणसि ) नष्ट करता है,

---

१७—( संवत्सरीणम् ) अ० ७ । ७७ । ३ । सम्+वस निवासे-सरन्, ख-प्रत्ययो भवे । सम्यग् निवासे गृहे भवम् ( पयः ) दुग्धम् ( उस्रियायाः ) अ० ४ । २६ । ५ । गोः ( तस्य ) पयसः ( मा आशीत् ) अश भोजने-लुङ्, अड्भावश्छान्दसः । मा अशीत्-यथा ऋग्वेदपदपाठे । न भोजनं कुर्यात् ( यातुधानः ) ( नृचक्षः ) हे नृणां द्रष्टः ( पीयूषम् ) पीयेरूषन् । उ० ४ । ७६ । पीय प्रीणने-ऊषन् । अमृतम् । दुग्धम ( अग्ने ) ( यतमः ) तेषां यः कश्चित् ( तितृप्सात् ) तृप्यतेः सनि । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इण्निषेधः, लेटि आडागमः । तर्पयितुमिच्छेत्, आत्मानम् ( तम् ) दुष्टम् ( प्रत्यञ्चम् ) प्रतिकूलगतिमन्तम् ( अर्चिषा ) तेजसा ( विध्य ) ताडय ( मर्मणि ) जीवमरणस्थाने ॥

१८—( सहमूरान् ) मूलेन कारणेन सहितान् । यद्वा मूढमनुष्यैः सहि-

( रक्षांसि ) राक्षसों ने ( त्वा ) तुझे ( पृतनासु ) संग्रामों में ( न ) नहीं (जिग्युः) जीता है। ( क्रव्यादः ) मांस भक्षकों को ( सहमूरान् ) [ उनके ] मूल [ अथवा मूढ़ मनुष्यों ] सहित ( अनु दह ) भस्म कर दे, ( ते ) तेरे ( दैव्यायाः ) दिव्य गुण वाले ( हेत्याः ) वज्र से ( मा मुक्षत ) वे न छूटें ॥ १८ ॥

भावार्थ—राजा दुःखदायी मनुष्यों को उनके मूल और साथियों सहित नाश करने में उत्साही रहे ॥ १८ ॥

यह मन्त्र आचुका है-अथर्व० ५। २९। ११ ॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्। प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ १९ ॥

त्वम्। नः। अग्ने। अधरात्। उदक्तः। त्वम्। पश्चात्। उत। रक्ष। पुरस्तात् ॥ प्रति। त्ये। ते। अजरासः। तपिष्ठाः। अघ-शंसम्। शोशुचतः। दहन्तु ॥ १९ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन्! ] ( त्वम् ) तू ( नः ) हमें ( अधरात् ) नीचे से, ( उदक्तः ) ऊपर से, ( त्वम् ) तू ( पश्चात् ) पीछे से ( उत ) और ( पुरस्तात् ) आगे से ( रक्ष ) बचा। ( ते ) तेरे ( त्ये ) वे ( अजरासः ) अजर ( तपिष्ठाः ) अत्यन्त तपाने वाले, ( शोशुचतः ) अत्यन्त चमकते हुये [ वज्र ] ( अघशंसम् ) बुरा चीतने वाले को ( प्रति दहन्तु ) जला डालें ॥ १९ ॥

भावार्थ—राजा समुद्र, आकाश, पहाड़, पृथिवी आदि के डाकुओं से बिजुली और अग्नि के शस्त्र अस्त्रों द्वारा प्रजा की रक्षा करे ॥ १९ ॥

---

तान्। अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ५। २९। ११ ॥

१९—( त्वम् ) ( नः ) अस्मान् ( अग्ने ) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् ( अधरात् ) अधोदेशात् ( उदक्तः ) उदक्-तसिल्। उदग्देशात्। उपरिस्थानात् ( त्वम् ) ( पश्चात् ) ( उत ) अपि च ( रक्ष ) ( पुरस्तात् ) अग्रदेशात् ( प्रति ) प्रतिकूलम् ( त्ये ) ते प्रसिद्धाः ( ते ) तव ( अजरासः ) अजराः। सुदृढाः ( तपिष्ठाः ) तापयितृतमाः ( अघशंसम् ) अ० ४। २१। ७। अनिष्टचिन्तकम् ( शोशुचतः ) म० १३। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। नुम् निषेधः। भृशं दीप्यमाना वज्राः ( दहन्तु ) भस्मसात् कुर्वन्तु ॥

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्त॒रात् क॒विः काव्येन॒ परि॑ पाह्यग्ने । सखा॒ सखा॑यमजरो॑ जरिम्णे अग्ने॒ मर्ताँ॑ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः ॥ २० ॥ ( ७ )

प॒श्चात् । पु॒रस्तात् । अ॒ध॒रात् । उ॒त । उ॒त्त॒रात् । क॒विः । काव्येन । परि॑ । पा॒हि॒ । अ॒ग्ने॒ ॥ सखा॑ । सखा॑यम् । अ॒जरः॑ । ज॒रि॒म्णे । अग्ने॑ । मर्ता॑न् । अम॑र्त्यः । त्वम् । नः॒ ॥ २० ॥ (७)

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान प्रतापी राजन् ! ] ( कविः ) बुद्धिमान् तू ( काव्येन ) अपनी बुद्धिमत्ता के साथ ( पश्चात् ) पीछे से, ( पुरस्तात् ) आगे से, ( अधरात् ) नीचे से ( उत ) और ( उत्तरात् ) ऊपर से, ( अग्ने ) हे राजन् ! ( अजरः ) अजर ( सखा ) मित्र [ के समान ] (सखायम्) मित्र को ( जरिम्णे ) स्तुति के लिये, ( अमर्त्यः ) अमर ( त्वम् ) तू ( नः ) हम ( मर्तान् ) मनुष्यों को ( परि ) सब ओर से ( पाहि ) बचा ॥ २० ॥

भावार्थ—नीतिमान् राजा अपनी नीति कुशलता से दृढ़ चित्त होकर प्रजा की रक्षा करके संसार में स्तुति पावे ॥ २० ॥

तद॑ग्ने॒ चक्षुः॒ प्रति॑ धेहि रे॒भे श॑फा॒रुजो॒ येन॒ पश्य॑सि यातु॒धाना॑न् । अ॒थ॒र्व॒वज्ज्योति॑षा॒ दैव्ये॑न स॒त्यं धूर्व॑न्तम॒चितं॒ न्यो॑ष ॥ २१ ॥

तत् । अ॒ग्ने॒ । चक्षुः॑ । प्रति॑ । धे॒हि॒ । रे॒भे । श॒फ॒ऽआ॒रुजः॑ । येन॑ । पश्य॑सि । या॒तु॒ऽधाना॑न् ॥ अ॒थ॒र्व॒ऽवत् । ज्योति॑षा । दैव्ये॑न । स॒त्यम् । धूर्व॑न्तम् । अ॒चित॑म् । नि । ओ॒ष॒ ॥ २१ ॥

२०—( उत्तरात् ) उपरिदेशात् ( कविः ) मेधावी—निघ० ३ । १५ । ( काव्येन ) कविकर्मणा । बुद्धिमत्तया ( परि ) सर्वतः ( पाहि ) रक्ष ( सखा ) सुहृत् ( सखायम् ) सुहृदं यथा (अजरः) अजीर्णः (जरिम्णे) अ० २ । २६ । १ । जॄ स्तुतौ—भावे—इमनिन् । स्तुतये ( मर्तान् ) मनुष्यान् ( अमर्त्यः ) अमरः ( त्वम् ) ( नः ) अस्मान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( तत् ) वह [ क्रोधभरी ] ( चक्षुः ) आंख ( रेभे ) कोलाहल मचाने वाले [ शत्रु ] पर ( परि धेहि ) डाल, ( येन ) जिससे ( शफारुजः ) शान्ति तोड़ने वाले ( यातुधानान् ) दुःखदायिओं को ( पश्यसि ) तू देखता है। ( अथर्ववत् ) निश्चल स्वभाव वाले ऋषि के समान तू ( दैव्येन ) देवताओं [ विद्वानों ] से पाये हुये ( ज्योतिषा ) तेज से ( सत्यम् ) सत्य ( धूर्वन्तम् ) नाश करने वाले ( अचितम् ) अचेत को ( नि ओष ) जला दे ॥ २१ ॥

भावार्थ—नीतिमान् राजा विद्वानों की सम्मति से प्रजा की शान्ति में विघ्नकारी, मिथ्यावादी दुष्टों को नाश करे ॥ २१ ॥

**परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।**
**धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥**

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ॥
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भङ्गुर-वतः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—( सहस्य ) हे बल के हितकारी ! ( अग्ने ) तेजस्वी सेनापति ! ( पुरम् ) दुर्गरूप, ( विप्रम् ) बुद्धिमान्, ( धृषद्वर्णम् ) अभयस्वभाव, ( भङ्गुरवतः ) नाश कर्म वाले [ कपटी ] के ( हन्तारम् ) नाश करने वाले ( त्वा ) तुझ को ( दिवेदिवे ) प्रति दिन ( वयम् ) हम (परि धीमहि) परिधि बनाते हैं ॥२२॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ २२ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७ । ७१ । १ ॥

२१—( तत् ) क्रूरम् ( अग्ने ) ( चक्षुः ) दृष्टिम् ( प्रति ) प्रतिकूलम् ( धेहि ) स्थापय ( रेभे )—म० १२ । शब्दायमाने । कोलाहलं कुर्वाणे दुष्टे ( शफारुजः ) शम शान्तौ—अच् मस्य फः पृषोदरादित्वात्—इति शब्दस्तोममहानिधिः । शफ + आ + रुजो भङ्गे—क्विप् । शान्तिसम्भञ्जकान् ( येन ) चक्षुषा ( पश्यसि ) अवलोकयसि ( यातुधानान् ) पीडाप्रदान् ( अथर्ववत् ) अ० ४ । १ । ७ । निश्चलस्वभावो मुनिर्यथा ( ज्योतिषा ) तेजसा ( दैव्येन ) देवाद् यञञौ । वा० पा० ४ । १ । ८५ । देव—यञ् । देवेभ्यो विद्वद्भ्यः प्राप्तेन ( सत्यम् ) यथार्थम् ( धूर्वन्तम् ) धुर्वी हिंसायाम्—शतृ । हिंसन्तम् ( अचितम् ) अचेत्तारम् निर्बुद्धिम् ( नि ) नितराम् ( ओष ) उष दाहे—लोट् । दह ॥

२२—अयंमन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ७१ । १ ॥

विषेण॑ भङ्गुराव॑तः प्रति॑ स्म र॒क्षसो॑ जहि ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर॒र्चिभिः॑ ॥ २३ ॥
वि॒षेण॑ । भ॒ङ्गु॒र॒-व॑तः । प्रति॑ । स्म॒ । र॒क्षसः॑ । ज॒हि॒ ॥ अग्ने॑ ।
ति॒ग्मेन॑ । शो॒चिषा॑ । तपुः॑-अग्राभिः । अ॒र्चि-भिः॑ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( विषेण ) विष से [ वा अपनी व्याप्ति से ] ( भङ्गुरवतः ) नाश कर्म वाले ( रक्षसः ) राक्षसों को ( स्म ) अवश्य ( तिग्मेन ) तीव्र ( शोचिषा ) तेज से और ( तपुरग्राभिः ) तापयुक्त शिखाओं वाली ( अर्चिभिः ) ज्वालाओं से ( प्रति जहि ) नाश कर दे ॥ २३ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवियों को तीव्र दण्ड देता रहे ॥ २३ ॥

वि ज्योति॑षा बृह॒ता भा॑त्य॒ग्निरा॒विर्विश्वा॑नि कृणुते
महि॒त्वा । प्रादे॑वीर्मा॒याः स॑हते दु॒रेवाः॒ शिशी॑ते॒ शृङ्गे॒
रक्षो॑भ्यो वि॒निक्ष्वे॑ ॥ २४ ॥
वि । ज्योति॑षा । बृ॒ह॒ता । भा॒ति॒ । अ॒ग्निः । आ॒विः । विश्वा॑नि ।
कृ॒णु॒ते॒ । म॒हि॒-त्वा ॥ प्र । अदे॑वीः । मा॒याः । स॒ह॒ते॒ । दुः॒-
एवाः॑ । शिशी॑ते । शृङ्गे॒ इति॑ । रक्षः॑-भ्यः । वि॒-निक्ष्वे॑ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—( अग्निः ) अग्नि [ समान तेजस्वी राजा ] ( बृहता ) बड़ी ( ज्योतिषा ) तेज के साथ ( वि भाति ) चमकता है, और ( विश्वानि ) सब

---

२३—( विषेण ) गरलेन स्वव्यापनेन वा ( भङ्गुरवतः ) अ० ७ । ७१ । १। नाशकर्मयुक्तान् ( प्रति ) प्रतिकूलम् ( स्म ) अवश्यम् ( रक्षसः ) पुंल्लिङ्गत्वं छान्दसम् । रक्षांसि ( जहि ) नाशय ( अग्ने ) ( तिग्मेन ) तीक्ष्णेन ( शोचिषा ) तेजसा ( तपुरग्राभिः ) अर्तिपॄवपि० । उ० २ । ११७ । तप दाहे—उसि । तापकशिखायुक्ताभिः ( अर्चिभिः ) ज्वालाभिः ॥

२४—( वि ) विविधम् ( ज्योतिषा ) तेजसा ( बृहता ) महता ( भाति ) प्रकाशते ( अग्निः ) अग्निवत्तेजस्वी राजा ( आविः ) अर्चिशुचिहु० । उ० २ ।

वस्तुओं को ( महित्वा ) अपनी महिमा से ( आविः कृणुते ) प्रकट करता है। ( अदेवीः ) अशुद्ध, ( दुरेवाः ) दुर्गति वाली ( मायाः ) बुद्धियों को ( प्रसहते ) जीत लेता है, और ( शृङ्गे ) दो प्रधान सामर्थ्य [ प्रजापालन और शत्रुनाशन ] को ( रक्षोभ्यः ) दुष्टों के (विनिक्ष्वे) विनाश के लिये (शिशीते) तेज करता है ।२४।

भावार्थ—जैसे सूर्य अग्नि आदि प्रकाश करके सब पदार्थों को दिखाता और अन्धकार मिटाता है, वैसे ही प्रतापी राजा अपनी प्रधानता से प्रजा का पालन शत्रुओं का नाश करता है ॥ २४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । २ । ९ ।

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व ॥ २५ ॥

ये इति । ते । शृङ्गे इति । अजरे इति । जात-वेदः । तिग्महेती इति तिग्म-हेती । ब्रह्मसंशिते इति ब्रह्म-संशिते ॥ ताभ्याम् । दुः-हार्दम् । अभि-दासन्तम् । किमीदिनम् । प्रत्यञ्चम् । अर्चिषा । जात-वेदः । वि । निक्ष्व ॥ २५ ॥

१०८ । आङ्+अव रक्षणादिषु-इवि । प्राकट्ये ( विश्वानि ) सर्वाणि वस्तूनि ( कृणुते ) करोति ( महित्वा ) महिम्ना ( प्र ) प्रकर्षेण ( अदेवीः ) अशुद्धाः ( मायाः ) बुद्धीः ( सहते ) अभिभवति । जयति ( दुरेवाः ) अ० ७ । ५० । ७ । दुर्गतियुक्ताः ( शिशीते ) तेजते ( शृङ्गे ) शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, स च कित्, नुट् च । शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा—निरु० २ । ७ । शृङ्गं प्राधान्यसान्योश्च—इत्यमरः २३ । २६ । द्विप्रकारे प्राधान्ये प्रजापालनं शत्रुनाशनं च ( रक्षोभ्यः ) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । वा० पा० २ । ३ । ६२ । रक्षसाम् । दुष्टानाम् ( विनिक्ष्वे ) भृमृशीङ्० । १ । ७ । णिक्ष चुम्बने, विपूर्वको नाशने-उप्रत्ययः, यणादेशः । विनिक्ष्वे । विनाशाय ॥

भाषार्थ—( जातवेदः ) हे बड़े ज्ञान वाले राजन् ! ( ये ) जो ( ते ) तेरे ( अजरे ) अजर [ अनश्वर ] ( शृङ्गे ) दो प्रधान सामर्थ्य [ प्रजापालन और शत्रुनाशन ] ( तिग्महेती ) तेज हथियारों वाले, ( ब्रह्मसंशिते ) वेद से तीक्ष्ण किये गये हैं। ( ताभ्याम् ) उन दोनों से ( दुर्हार्दम् ) दुष्ट हृदय वाले, ( अभिदासन्तम् ) अति दुःख देने वाले, ( प्रत्यञ्चम् ) प्रतिकूल चलने वाले, ( किमीदिनम् ) [ अब क्या हो रहा है, यह क्या हो रहा है, ऐसे ] खोजी शत्रु को ( अर्चिषा ) अपने तेज से, ( जातवेदः ) हे बड़े धन वाले ! ( वि निक्ष्व ) तू नाश कर दे ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो वेदानुगामी राजा अपनी राज्यशक्ति को प्रजापालन और शत्रुनाशन में लगाता है, वह कीर्तिमान् होता है ॥ २५ ॥

**अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।**
**शुचि॑: पाव॒क ईड्य॑: ॥ २६ ॥ (८)**

**अ॒ग्निः । रक्षां॑सि । से॒ध॒ति॒ । शु॒क्र-शो॑चिः अम॑र्त्यः ॥**
**शुचि॑: । पा॒व॒कः । ईड्य॑: ॥ २६ ॥ (८)**

भाषार्थ—( शुक्रशोचिः ) शुद्धतेज वाला, ( अमर्त्यः ) अमर, ( शुचिः ) पवित्र, ( पावकः ) शुद्ध करने वाला, ( ईड्यः ) स्तुति योग्य वा खोजने योग्य ( अग्निः ) अग्नि [ समान तेजस्वी सेनापति ] ( रक्षांसि ) दुष्टों को ( सेधति ) शासन में रखता है ॥ २६ ॥

---

२५—( ये ) ( ते ) तव ( शृङ्गे ) म० २४ । द्वे प्राधान्ये प्रजापालनं शत्रुनाशनं च ( अजरे ) अजीर्णे । अनश्वरे ( जातवेदः ) हे प्रभूतधन ( तिग्महेती ) सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा० । पा० ७ । १ । ३९ । पूर्वसवर्णदीर्घः । तिग्महेतिनी । तीक्ष्णायुधे ( ब्रह्मसंशिते ) वेदद्वारा तीक्ष्णीकृते ( ताभ्याम् ) प्राधान्याभ्याम् ( दुर्हार्दम् ) अ० २ । ७ । ५ । दुष्टहृदयम् ( अभिदासन्तम् ) सर्वतो हिंसन्तम् ( किमीदिनम् ) अ० १ । ७ । १ । पिशुनं शत्रुम् ( प्रत्यञ्चम् ) प्रतिकुलगन्तारम् ( अर्चिषा ) तेजसा ( जातवेदः ) हे बहुधन ( वि निक्ष्व )—म० २४ । विनाशय ॥

२६—( अग्निः ) अग्निवत्तेजस्वी सेनाधीशः ( रक्षांसि ) दुष्टान् ( सेधति ) षिधू शासने । शास्ति ( शुक्रशोचिः ) शुद्धतेजाः ( अमर्त्यः ) अमरणधर्मा । महापुरुषार्थी ( शुचिः ) पवित्रः ( पावकः ) संशोधकः ( ईड्यः ) स्तुत्यः । अन्वेषणीयः ॥

भावार्थ—प्रतापी, अमर अर्थात् शूर वीर पराक्रमी शुद्धाचरणी राजा दुष्टों को जीतकर कीर्ति पावे ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७। १५। १० ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२५ ॥ १-७, १५, २५ इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ; ८, १६, १९-२२, २४ इन्द्रः; ९, १२, १३ सोमः; १०, १४ अग्निः; ११ देवाः; १७ ग्रावाणः; १८ मरुतः; २३ पृथिव्यन्तरिक्षे देवते ॥ १—३. ५, ६, १८, २१ जगती; ४ विराड्जगती; ७ निचृज्जगती; ८, १२, २४ निचृत् त्रिष्टुप्; ९, ११, १३, १४, १६, १७, १९, २२ त्रिष्टुप्; १० विराट् त्रिष्टुप्; १५, स्वराट् त्रिष्टुप्; २०, २३ भुरिक् त्रिष्टुप्; २५ पादनिचृदनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑ ।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

इन्द्रा॑सोमा । तप॑तम् । रक्षः॑ । उ॒ब्जत॑म् । नि । अ॒र्प॒य॒त॒म् । वृ॒ष॒णा॒ । त॒मः॒-वृधः॑ ॥ परा॑ । शृ॒णी॒त॒म् । अ॒चितः॑ । नि । ओ॒षतम् । ह॒तम् । नु॒देथा॑म् । नि । शि॒शी॒तम् । अ॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री!] तुम दोनों (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) तपाओ, (उब्जतम्) दबाओ, (वृषणा) हे बलिष्ठ! तुम दोनों (तमोवृधः) अन्धकार बढ़ाने वालों को (नि अर्पयतम्) नीचे डालो। (अचितः) अचेतों [मूर्खों] को (परा शृणीतम्) कुचल डालो, (नि ओषतम्) जला दो, (अत्त्रिणः) खाऊ जनों को

१—(इन्द्रासोमा) देवता द्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इत्यानङ्। इन्द्रः सूर्यश्च सोमश्चन्द्रश्चतौ। तादृशौ राजमन्त्रिणौ (तपतम्) तापयतम् (रक्षः) जातावेकवचनम्। रक्षांसि (उब्जतम्) उब्ज आर्जवे हिंसने च। हिंस्तम् (नि अर्पयतम्) ऋ गतौ, णिचि, पुगागमः। नीचैः प्रापयतम् (वृषणा) वृषणौ। बलिष्ठौ (तमोवृधः) अन्धकारवर्धकान् (परा शृणीतम्) विमर्दयतम्

( हतम् ) मारो, ( नुदेथाम् ) ढकेलो, ( नि शिशीतम् ) छील डालो [ दुर्बल कर दो ] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री उपद्रवियों को कठिन दण्ड देते रहें ॥ १ ॥

यह सूक्त म० १—२५ । कुछ भेद से ऋग्वेद में है । ७ । १०४ । १-२५ ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑स॒म॒भ्य॑१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॒ग्निमाँ॑ इव । ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमन॒वायं कि॑मी॒दिने॑ ॥ २ ॥

इन्द्रा॑सोमा । सम् । अ॒घ-शं॑सम् । अ॒भि । अ॒घम् । तपुः॑ । य॒य॒स्तु॒ । च॒रुः । अ॒ग्नि॒मान्-इ॑व ॥ ब्र॒ह्म॒-द्विषे॑ । क्र॒व्य-अदे॑ । घो॒र-च॑क्षसे । द्वेषः॑ । ध॒त्त॒म् । अ॒न॒वा॒यम् । कि॒मी॒दिने॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—( इन्द्रासोमा ) हे सूर्य और चन्द्र [ समान राजा और मन्त्री ! ] ( अघशंसम्-अभि ) बुरा चीतने वाले को ( तपुः ) तपन करने वाला ( अघम् ) दुःख ( सम् ययस्तु ) क्लेश देता रहे, ( इव ) जैसे ( अग्निमान् ) अग्निवाला ( चरुः ) चरु [ पात्र ] क्लेश देता है] । ( ब्रह्मद्विषे ) वेद के द्वेषी, ( क्रव्यादे ) मांस खाने वाले, ( किमीदिने ) लुतरे के लिये ( अनवायम् ) निरन्तर ( द्वेषः ) द्वेष ( धत्तम् ) तुम दोनों धारण करो ॥ २ ॥

---

( अचितः ) अविद्वान् । मूढान् ( नि ओषतम् ) नितरां दहतम् ( हतम् ) मारयतम् ( नुदेथाम् ) प्रेरयेथाम् ( नि शिशीतम् ) शो॰तनूकरणे । नितरां तनूकुरुतम् । निर्बलान् कुरुतम् (अत्त्रिणः) अ०१ ।७। ३। अदनशीलान् । भक्षकान् ॥

२—( इन्द्रासोमा ) म० १ । ( सम् ) सम्यक् ( अघशंसम् ) अ० ४ । २१ । ७ । अनिष्टं चिन्तकम् ( अभि ) प्रति ( अघम् ) दुःखम् ( तपुः ) अर्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । तप दाहे—उसि । तापकम् (ययस्तु) यसु प्रयत्ने । आयासयुक्तं क्लेशप्रदं भवतु ( चरुः ) पात्रम् ( अग्निमान् ) अग्नियुक्तः ( इव ) यथा ( ब्रह्मद्विषे ) वेदद्वेष्ट्रे, ( क्रव्यादे ) मांसभक्षकाय ( घोरचक्षसे ) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—असुन् । क्रूररूपाय । परुषवचनाय ( द्वेषः ) अप्रीतिम् (धत्तम्) धारयतम् ( अनवायम् ) अन + अव परिभवे + इण गतौ—अच् ।

भावार्थ—राजा और मन्त्री घोर पापियों को निरन्तर दण्ड देकर प्रजापालन करें ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्। यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा। दुः-कृतः। वव्रे। अन्तः। अनारम्भणे। तमसि। प्र। विध्यतम् ॥ यतः। न। एषाम्। पुनः। एकः। चन। उत्-अयत्। तत्। वाम्। अस्तु। सहसे। मन्यु-मत्। शवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] तुम दोनों (दुष्कृतः) दुष्कर्मियों को (वव्रे अन्तः) [ढकने वाले] गढ़े के बीच (अनारम्भणे) अथाह (तमसि) अन्धकार में (प्र विध्यतम्) छेद डालो। (यतः) जिस [गढ़े] से (एषाम्) उनमें से (पुनः) फिर (एकः चन) कोई भी (न) न (उदयत्) ऊपर आवे, (तत्) सो (वाम्) तुम दोनों का (मन्युमत्) क्रोधभरा (शवः) बल [उनके] (सहसे) हराने के लिये (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रयत्नशाली राजा और मन्त्री सब अत्याचारियों को घेर कर नाश कर दें ॥ ३ ॥

---

अव्यवहितम्। निरन्तरम् (किमीदिने) अ० १।७।१। पिशुनाय ॥

३—(इन्द्रासोमा) म० १। तेजस्विनौ राजमन्त्रिणौ (दुष्कृतः) दुष्कर्मिणः पुरुषान् (वव्रे) घञर्थे कविधानम्। वा० पा० ३।२।५८। वृञ् संवरणे-क। कृञादीनां के द्वे भवतः। वा पा० ३।२।५८। आवरके स्थाने। कूपे—निघ० ३।२३। (अन्तः) मध्ये (अनारम्भणे) रभि औत्सुक्ये—ल्युट्। अनारभ्यमाणे। अगम्यमाने (प्र) प्रकर्षेण (विध्यतम्) ताडयतम् (यतः) यस्मात् स्थानात् (न) निषेधे (एषाम्) उपद्रविणाम् (पुनः) (एकश्चन) एकोऽपि (उदयत्) इण् गतौ—लेट्, अडागमः उद्गच्छेत् (तत्) तस्मात्कारणात् (वाम्) युवयोः (अस्तु) (सहसे) अभिभवाय (मन्युमत्) क्रोधयुक्तम् (शवः) अ० ५।२।२। बलम् ॥

म० ४, ५ आयुधनिर्माणोपदेशः—म० ४, ५ हथियार बनाने का उपदेश ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्। उत् तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । वधम् । सम् । पृथिव्याः । अघ-शंसाय । तर्हणम् ॥ उत् । तक्षतम् । स्वर्यम् । पर्वतेभ्यः । येन । रक्षः । ववृधानम् । नि-जूर्वथः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( इन्द्रासोमा ) हे सूर्य और चन्द्र [ समान राजा और मन्त्री ! ] तुम दोनों ( दिवः ) आकाश से और ( पृथिव्याः ) पृथिवी से ( वधम् ) मारू हथियार ( सम् वर्तयतम् ) लुढ़कवाओ, [ जिससे ] ( अघशंसाय ) बुरा चीतने वाले के लिये ( तर्हणम् ) मरण [ होवे ] । ( स्वर्यम् ) धड़ाके वाला वा तपा देने वाला [ हथियार ] ( पर्वतेभ्यः ) पहाड़ों से ( उत् तक्षतम् ) ढलवाओ, ( येन ) जिस से ( ववृधानम् ) बढ़ते हुये ( रक्षः ) राक्षस को ( निजूर्वथः ) तुम दोनों मार गिराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री ऐसे ऐसे हथियार बनवायें जिनके द्वारा शत्रुओं को आकाश, भूमि, पहाड़ों और गढ़ की भीतों आदि से मार सकें ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः। तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥

---

४—( इन्द्रासोमा ) म० १ । ( वर्तयतम् ) वर्तनेन प्रेरयतम् ( दिवः ) आकाशात् ( वधम् ) हननसाधनमायुधम् ( सम् ) सम्यक् ( पृथिव्याः ) भूमेः सकाशात् ( अघशंसाय ) अनिष्टचिन्तकाय ( तर्हणम् ) तृह हिंसायाम्—ल्युट् । मरणम् ( उत् ) उत्कर्षेण ( तक्षतम् ) तनूकुरुतम् ( स्वर्यम् ) अ० २ । ५ । ६ । स्वृ शब्दोपतापयोः । शब्दकारकं प्रतापकं वायुधम् ( पर्वतेभ्यः ) शैलेभ्यः । दुर्गशिखरेभ्यः ( येन ) वधेन ( रक्षः ) राक्षसजातिम् ( ववृधानम् ) वर्धमानम् ( निजूर्वथः ) जुर्वी हिंसायाम् । निहथः ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । परि । अग्नि-तप्तेभिः । युवम् । अश्महन्म-भिः ॥ तपुः-वधेभिः । अजरेभिः । अत्त्रिणः । नि । पर्शाने । विध्यतम् । यन्तु । नि-स्वरम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] (युवम्) तुम दोनों (दिवः) आकाश से (अग्नितप्तेभिः) अग्नि से तपाये हुये, (अश्महन्मभिः) मेघ के समान चलने वाले [अथवा फैलने वाले पदार्थों पत्थर, लोहे आदि से मार करने वाले] (अजरेभिः) अजर [अटूट] (तपुर्वधेभिः) तपा देने वाले हथियारों से (अत्त्रिणः) खाऊ लोगों को (परि वर्तयतम्) लुढ़कवा दो, (पर्शाने) गढ़े के बीच (नि विध्यतम्) छेद डालो, वे लोग (निस्वरम्) चुप्पी (यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—सेनापति लोग वायुयानों में चढ़ कर आकाश से आग्नेय हथियारों द्वारा शत्रुओं को मार गिरावें ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना । यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

इन्द्रासोमा । परि । वाम् । भूतु । विश्वतः । इयम् । मतिः ।

---

५—(इन्द्रासोमा) म० १। (परिवर्तयतम्) वर्तनेन प्रेरयतम् (दिवः) आकाशात् (अग्नितप्तेभिः) अग्निना संतप्तैः (युवम्) युवाम् (अश्महन्मभिः) अशिशकिभ्यां छन्दसि। उ० ४। १४७। अश व्याप्तौ संघाते च—मनिन्। अश्मा मेघः—निघ० १। १०। हन हिंसागत्योः—मनिन्। मेघवद् गमनशीलैः। यद्वा व्यापनशीलैः पदार्थैः पाषाणलोहादिभिर्मारयद्भिः (तपुर्वधेभिः) तापकैरायुधैः (अजरेभिः) अजीर्णैः। दृढैः (नि) नितराम् (पर्शाने) सम्यानच् स्तुवः। उ० २। ८९। स्पृश स्पर्शने—आनच्। यद्वा, पर+शॄ हिंसायाम्—आनच्, स च डित्। पृषोदरादिरूपम्। पर्शानो मेघः—टिप्पणी, निघ० १। १०। गुहायाम्। गर्ते (विध्यतम्) ताडयतम् (यन्तु) प्राप्नुवन्तु ते शत्रवः (निस्वरम्) शब्दराहित्यम् ॥

कुक्ष्या । अश्वा-इव । वाजिना ॥ याम् । वाम् । होत्राम् । परि-हिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि । नृपती इवेति नृपती-इव । जिन्वतम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री!] (इयम्) यह (मतिः) मति [बुद्धि] (वाम्) तुम दोनों को (विश्वतः) सब ओर से (परि भूतु) सर्वथा व्यापे, (इव) जैसे (कक्ष्या) पेटी (वाजिना) बलवान् (अश्वा) घोड़े को। (याम्) जिस (होत्राम्) वाणी को (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) बुद्धि के साथ (परि हिनोमि) मैं सन्मुख करता हूं, (नृपती इव) दो नरपतियों के समान तुम दोनों (इमा) इन (ब्रह्माणि) ब्रह्म ज्ञानों से (जिन्वतम्) तृप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री वेदोक्त उत्तम शिक्षाओं को ग्रहण करके धर्म कर्म में प्रवृत्त रहें ॥ ६ ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः। इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहः ॥ ७ ॥

प्रति । स्मरेथाम् । तुजयत्-भिः । एवैः । हतम् । द्रुहः । रक्षसः । भङ्गुर-वतः ॥ इन्द्रासोमा । दुः-कृते । मा । सु-गम् । भूत् । यः । मा । कदा । चित् । अभि-दासति । द्रुहः ॥ ७ ॥

६—(इन्द्रासोमा) म० १। (परि) सर्वथा (वाम्) युवाम् (भूतु) भवतु। व्याप्नोतु (विश्वतः) सर्वतः (इयम्) (मतिः) बुद्धिः (कक्ष्या) कक्षसम्बन्धिनी रज्जुः (अश्वा) सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छे०। पा० ७।१।३६। द्वितीयाया आकारः। अश्वम् (इव) यथा (वाजिना) विभक्तेराकारः। वाजिनम्। बलवन्तम् (याम्) (वाम्) युवाभ्याम् (होत्राम्) वाणीम्—निघ० १।११। (परिहिनोमि) हि गतिवृद्ध्योः। प्रेरयामि। सम्मुखयामि (मेधया) प्रज्ञया (इमा) इमानि (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (नृपती) राजानौ (इव) (जिन्वतम्) प्रीणयतम्। तर्पयतम् ॥

पुरुष ] को ( प्र ददातु ) दे देवे, ( वा ) अथवा ( निर्ऋतेः ) अलक्ष्मी की ( उपस्थे ) गोद में ( आ दधातु ) रख देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कोई पाखण्डी उपकारी सज्जनों के कामों में बाधा डालें, राजा उनको वधक आदि से मरवा डाले अथवा निर्धन कर देवे ॥ ६ ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्। रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥ (९)

यः। नः। रसम्। दिप्सति। पित्वः। अग्ने। अश्वानाम्। गवाम्। यः। तनूनाम्॥ रिपुः। स्तेनः। स्तेय-कृत्। दभ्रम्। एतु। नि। सः। हीयताम्। तन्वा। तना। च ॥ १० ॥( ९ )

भाषार्थ—( अग्ने ) हे अग्नि [ समान तेजस्वी राजन् ! ] ( यः ) जो [ दुष्ट ] ( नः ) हमारे ( पित्वः ) रक्षा साधन अन्न आदि के और ( यः ) जो ( अश्वानाम् ) घोड़ों के और ( गवाम् ) गौओं के ( तनूनाम् ) शरीरों के ( रसम् ) रस [ तत्त्व ] को ( दिप्सति ) मिटाना चाहे। ( स्तेनः ) वह तस्कर, ( स्तेयकृत् ) चोरी करने वाला ( रिपुः ) शत्रु ( दभ्रम् ) कष्ट को ( एतु ) प्राप्त हो

---

ऐश्वर्यवान् प्रेरको वा राजा ( आ ) समन्तात् ( दधातु ) स्थापयतु ( निर्ऋतेः ) अ० २। १०। १। कृच्छ्रापत्तेः। अलक्ष्म्याः ( उपस्थे ) उत्सङ्गे ॥

१०—( यः ) ( नः ) अस्माकम् ( रसम् ) सारम् ( दिप्सति ) अ० ४। ३६। १। दम्भितुं हिंसितुमिच्छति ( पित्वः ) अ० ४। ६। ३। पा रक्षणे—तु, यणादेशः। पितोः। रक्षासाधनस्यान्नादेः ( अग्ने ) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् ( अश्वानाम् ) ( गवाम् ) ( यः ) ( तनूनाम् ) शरीराणाम् ( रिपुः ) रपेरिच्चोपधायाः। उ० १। २६। रप व्यक्तायां वाचि-कु, यद्वा रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु—कु, फस्य पः। शत्रुः ( स्तेनः ) चोरः ( स्तेयकृत् ) मोषकर्ता ( दभ्रम् ) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ०। २। १३। दभि हिंसायाम्-रक्। हिंसाम् ( एतु ) प्राप्नोतु ( नि ) निश्चयेन ( सः ) ( हीयताम् ) हीनो भवतु ( तन्वा ) शरीरेण ( तना ) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो०। पा० ३। १। १३४। तनु विस्तारे-अच। सुपां

और ( सः ) वह ( तन्वा ) अपने शरीर से ( च ) और ( नात ) धन से ( नि ) सर्वथा ( हीयताम् ) हीन हो जावे ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की सम्पति हरने वाले डाकू चोर आदिकों को दण्ड देकर स्वाधीन रक्खे ॥ १० ॥

प॒रः सो अ॑स्तु त॒न्वा॒३॒ तना॑ च ति॒स्रः पृ॑थि॒वीर॒धो अ॑स्तु विश्वाः॑ । प्रति॑ शुष्यतु॒ यशो॑ अस्य दे॒वा यो मा॒ दिवा॒ दिप्स॑ति॒ यश्च॒ नक्त॑म् ॥ ११ ॥

प॒रः । सः । अ॒स्तु॒ । त॒न्वा॑ । तना॑ । च॒ । ति॒स्रः । पृ॒थि॒वीः । अ॒धः । अ॒स्तु॒ । विश्वाः॑ ॥ प्रति॑ । शु॒ष्य॒तु॒ । यशः॑ । अ॒स्य॒ । दे॒वाः॒ । यः । मा॒ । दिवा॑ । दिप्स॑ति । यः । च॒ । नक्त॑म् ॥११॥

भाषार्थ—( सः ) वह [ दुष्ट ] ( तन्वा ) अपने शरीर से ( च ) और ( तना ) धन से ( परः ) परे ( अस्तु ) हो जावे और ( विश्वाः ) सब ( तिस्रः) तीनों ( पृथिवीः अधः ) भूमियां [ शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं ] से नीचे नीचे ( अस्तु ) हो जावे । ( देवाः ) हे विद्वानो ! ( अस्य ) उसका ( यशः ) यश ( प्रति शुष्यतु ) सूख जावे, ( यः ) जो ( मा ) मुझे (दिवा) दिन में ( च ) और ( यः ) जो ( नक्तम् ) रात्रि में (दिप्सति) सताना चाहे ॥ ११

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा को दिन वा रात्रि में सतावे उसको विद्वान् लोग सब प्रकार दण्ड देवें ॥ ११ ॥

---

नुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः । तनेन धनेन-निघ० २ । १० (च) ॥

११—( परः ) परस्तात् । दूरे ( सः ) शत्रुः ( अस्तु ) ( तन्वा ) ( तना ) म० १० । धनेन ( च ) ( तिस्रः ) त्रिप्रकाराः ( पृथिवीः ) भूमीः । शारीरिकात्मिकसामाजिकव्यवस्थाः ( अधः ) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते । वा० पा० २ । ३ । २ । इत्यधसो योगे द्वितीया । अधोऽधः ( अस्तु ) ( विश्वाः ) व्याप्ताः सर्वाः ( प्रति ) प्रातिकूल्ये ( शुष्यतु ) शुष्कं भवतु ( यशः ) कीर्त्तिः ( अस्य ) पापिनः (देवाः) हे विद्वांसः । शूराः ( यः ) ( मा ) माम् । धार्मिकम् ( दिवा ) अहनि ( दिप्सति म० १० । हिंसितुमिच्छति ( यः ) ( च ) ( नक्तम् ) रात्रौ ॥

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२

सु-विज्ञानम्। चिकितुषे। जनाय। सत्। च। असत्। च। वचसी इति। पस्पृधाते इति॥ तयोः। यत्। सत्यम्। यतरत्। ऋजीयः। तत्। इत्। सोमः। अवति। हन्ति। असत्॥१२॥

भाषार्थ—( चिकितुषे ) ज्ञानी ( जनाय ) पुरुष के लिये ( सुविज्ञानम् ) सुगम विज्ञान है, [ कि ] ( सत् ) सत्य ( च च ) और ( असत् ) असत्य ( वचसी ) वचन ( पस्पृधाते ) दोनों परस्पर विरोधी होते हैं। ( तयोः ) उन दोनों में से ( यत् ) जो ( सत्यम् ) सत्य और ( यतरत् ) जो कुछ ( ऋजीयः ) अधिक सीधा है, ( तत् ) उसको ( इत् ) ही ( सोमः ) सर्वप्रेरक राजा ( अवति ) मानता है और ( असत् ) असत्य को ( हन्ति ) नष्ट करता है ॥ १२॥

भावार्थ—विवेकी मर्मज्ञ राजा सत्य और असत्य का निर्णय करके सत्य को मानता और असत्य को छोड़ता है ॥ १२ ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

१२—( सुविज्ञानम् ) विज्ञातुं सुशकं भवति ( चिकितुषे ) अ० ४। ३०। २। विदुषे ( जनाय ) मनुष्याय ( सत् ) सत्यम् ( च च ) ( असत् ) असत्यम् ( वचसी ) वचने ( पस्पृधाते ) स्पर्ध संघर्षे—लटि शपः श्लुः, छान्दसं रूपम्। स्पर्धेते। परस्परं विरोधयतः ( तयोः ) सदसतोर्मध्ये ( यत् ) ( सत्यम् ) यथार्थम् ( यतरत् ) यत् किंचित् ( ऋजीयः ) ऋजु-ईयसुन्। सरलतरम् ( तत् ) ( इत् ) एव ( सोमः ) सर्वप्रेरको राजा ( अवति ) गृह्णाति ( हन्ति ) नाशयति ( असत् ) असत्यम् ( हन्त्यासत् ) छन्दसो दीर्घः ॥

न । वै । ऊं इति । सोमः । वृजिनम् । हिनोति । न । क्षत्रियम् । मिथुया । धारयन्तम् ॥ हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्तम् । उभौ । इन्द्रस्य । प्र-सितौ । शयाते इति १३

भाषार्थ—( सोमः ) ऐश्वर्यवान् राजा ( वृजिनम् ) पापी को ( न वै उ ) न कभी भी ( हिनोति ) बढ़ाता है, और ( न ) न ( मिथुया ) [ प्रजा की ] हिंसा ( धारयन्तम् ) धारण करनेवाले ( क्षत्रियम् ) क्षत्रिय [ बलवान् ] को। वह ( रक्षः ) राक्षस को ( हन्ति ) मारता है, और ( असत् ) झूंठ ( वदन्तम् ) बोलनेवाले को ( हन्ति ) मारता है, ( उभौ ) वे दोनों ( इन्द्रस्य ) राजा की ( प्रसितौ ) बेड़ी में ( शयाते ) सोते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का अपमान करके कारागार में रक्खे और नाश करे ॥ १३ ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने। किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि । वा । अहम् । अनृत-देवः । अस्मि । मोघम् । वा । देवान् । अपि-ऊहे । अग्ने ॥ किम् । अस्मभ्यम् । जात-वेदः । हृणीषे । द्रोघ-वाचः । ते । निः-ऋथम् । सचन्ताम् ।१४।

भाषार्थ—( यदि वा ) क्या ( अहम् ) मैं ( अनृतदेवः ) झूंठे व्यवहार

---

१३—( न ) निषेधे ( वै ) अवधारणे ( उ ) निश्चये ( सोमः ) ऐश्वर्यवान् राजा ( वृजिनम् ) अ० १। १० । ३। पापिनम् ( हिनोति ) वर्धयति ( न ) ( क्षत्रियम् ) क्षत्रं बलम् तद्वन्तम् । बलिनम् (मिथुया) अ० ४। २९ । ७ । मिथु— विभक्तेर्याच्—पा० ७ । १ ३९ । मिथु प्रजाहिंसनम् ( धारयन्तम् ) आचरन्तम् ( हन्ति ) ( रक्षः ) राक्षसम् ( असत् ) अनृतम् ( वदन्तम् ) कथयन्तम् ( उभौ ) ( इन्द्रस्य ) राज्ञः ( प्रसितौ ) अ० ८ । ३ । ११ । शृङ्खलायाम् ( शयाते ) वर्तेते ॥

१४—( यदि वा ) प्रश्ने ( अहम् ) सत्यवादी ( अनृतदेवः ) असत्यव्यवहारी

वाला ( अस्मि ) हूं, ( वा ) अथवा, ( अग्ने ) हे विज्ञानी राजन् ! ( देवान् ) स्तुति योग्य पुरुषों को ( मोघम् ) व्यर्थ ( अप्यूहे ) निन्दित जानता हूं। ( जातवेदः ) हे बड़े ज्ञानवाले राजन् ! तू ( किम् ) किस लिये ( अस्मभ्यम् ) हम पर ( हृणीषे ) क्रोध करता है, ( द्रोघवाचः ) अनिष्ट बोलने वाले पुरुष ( ते ) तेरे ( निर्ऋथम् ) क्लेश को ( सचन्ताम् ) भोगें ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा सत्यवादी और असत्यवादियों का निर्णय करके यथोचित व्यवहार करे ॥ १४ ॥

**अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य। अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥**

**अद्य। मुरीय। यदि। यातु-धानः। अस्मि। यदि। वा। आयुः। ततप। पुरुषस्य ॥ अध। सः। वीरैः। दश-भिः। वि। यूयाः। यः। मा। मोघम्। यातु-धान। इति। आह ॥ १५ ॥**

भाषार्थ—( अद्य ) आज ( मुरीय ) मैं मर जाऊं, ( यदि ) जो मैं ( यातुधानः ) पीड़ा देनेवाला ( अस्मि ) हूं, ( यदि वा ) अथवा ( पुरुषस्य ) किसी पुरुष के ( आयुः ) जीवन को ( ततप ) मैं ने सताया है। ( अध ) सो ( सः ) वह तू ( दशभिः ) दश ( वीरैः ) वीरों से ( वि यूयाः ) अलग हो जा,

( अस्मि ) ( मोघम् ) व्यर्थम् ( वा ) अथवा ( देवान् ) स्तुत्यान् पुरुषान् ( अप्यूहे ) अपि निन्दायाम् + ऊह वितर्के–लट्। निन्दितान् विचारयामि ( किम् ) कथम् ( अस्मभ्यम् ) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः। पा० १। ४। ३७। इति चतुर्थी। अस्मान् प्रति ( जातवेदः ) हे प्रसिद्धज्ञान ( हृणीषे ) क्रुध्यसि ( द्रोघवाचः ) अनिष्टवादिनः ( ते ) तव ( निर्ऋथम् ) अ० ६। ६३। १। क्लेशम् ( सचन्ताम् ) सेवन्ताम् ॥

१५—( अद्य ) वर्तमाने दिने ( मुरीय ) मृङ् प्राणत्यागे–विधि लिङ्। बहुलं छन्दसि। पा० २। ४। ७३। तुदादेरदादित्वम्। बहुलं छन्दसि। पा० ७। १। १०३। ऋकारस्य उकारः। अहं म्रियेय ( यदि ) ( यातुधानः ) पीडाप्रदः ( अस्मि ) ( यदि वा ) ( आयुः ) जीवनम् ( ततप ) अहं सन्तापितवान्

( यः ) जो आप ( मा ) मुझ से ( मोघम् ) व्यर्थ ( इति ) यह ( आह ) कहे ( यातुधान ) "तू दुःखदायी है" ॥ १५ ॥

भावार्थ—सत्पुरुषों के दुःखदायी होने से मनुष्य का मर जाना अच्छा है, और मिथ्या अपवादियों का भी नाश होना चाहिये ॥ १५ ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट १६

यः । मा । अयातुम् । यातु-धान । इति । आह । यः । वा । रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ॥ इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः । पदीष्ट ॥१६॥

भाषार्थ—( यः ) जो ( मा अयातुम् ) मुझ अनदुःखदायी को ( इति ) यह ( आह ) कहे, ( यातुधान ) " तू दुःखदायी है, " ( वा ) अथवा ( यः ) जो ( रक्षाः ) राक्षस होकर ( इति ) यह ( आह ) कहे, ( शुचिः अस्मि ) "मैं पवित्र हूं"। ( इन्द्रः ) ऐश्वर्यवान् राजा ( तम् ) उस को ( महता ) विशाल ( वधेन ) मारू हथियार से ( हन्तु ) मारे और वह ( विश्वस्य ) प्रत्येक ( जन्तोः ) जीव के ( अधमः ) नीचे होकर ( पदीष्ट ) चले ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो छली पुरुष धर्मात्माओं को अधर्मी बतावे और आप अधर्मी होकर धर्मात्मा बने, ऐसे पाखण्डियों को राजा सर्वथा दण्ड देवे ॥ १६॥

---

( पुरुषस्य ) मनुष्यस्य ( अद्य ) अथ ( सः ) स त्वम् ( वीरैः ) शूरैः ( दशभिः ) ( वियूयाः ) वियुक्तो भवेः ( यः ) यो भवान् ( मा ) माम् ( मोघम् ) व्यर्थम् ( यातुधान ) त्वं यातुधानोऽसि ( इति ) अनेन प्रकारेण ( आह ) ब्रूते ॥

१६—( यः ) दुराचारी ( मा ) माम् ( अयातुम् ) कृवापा० । उ० १ । १ । यत ताडने—उण् । अपीडकम् ( यातुधान ) हे यातनाप्रद ( इति ) एवम् ( आह ) ब्रूते ( यः ) ( वा ) ( रक्षाः ) पु० लि० । राक्षसाः ( शुचिः ) पवित्रः ( इति ) ( आह ) ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजा ( तम् ) ( हन्तु ) मारयतु ( महता ) अतिप्रभाववता ( वधेन ) मारकेणायुधेन ( विश्वस्य ) सर्वस्य । प्रत्येकस्य ( जन्तोः ) जीवस्य ( अधमः ) निकृष्टः ( पदीष्ट ) अ० ७ । ३१ । १ । पत्सीष्ट । गम्यात् ॥

प्र या जिगा॑ति खु॒र्गले॑व॒ नक्त॒मप॑ द्रु॒हुस्त॒न्वं१॒ गूह॑माना।
व॒व्रम॑न॒न्तमव॒ सा प॑दीष्ट॒ ग्रावा॑णो घ्नन्तु र॒क्षस॑ उप॒ब्दैः॥१७

प्र। या। जिगा॑ति। खु॒र्गला॑ऽइव। नक्त॑म्। अप॑। द्रु॒हुः। त॒न्व॑म्। गूह॑माना॥ व॒व्रम्। अ॒न॒न्तम्। अव॑। सा। प॒दी॒ष्ट॒। ग्रावा॑णः। घ्न॒न्तु। र॒क्षसः॑। उ॒प॒ब्दैः॥ १७॥

भाषार्थ—( या ) जो ( द्रुहुः ) बुरा चीतने वाली स्त्री ( तन्वम् ) शरीर [ स्वरूप ] को ( अप गूहमाना ) छिपाती हुई ( खर्गला इव ) खड्ग लिये हुये जैसे [ अथवा व्यथा देने वाली उलूकी आदि के समान ] ( नक्तम् ) रात्रि में ( प्र जिगाति ) निकलती है। ( सा ) वह ( अनन्तम् ) अथाह ( वव्रम् ) गढ़े को ( अव ) अधोमुख होकर ( पदीष्ट ) प्राप्त हो, ( ग्रावाणः ) सूक्ष्मदर्शी लोग ( उपब्दैः ) शब्दों के साथ ( रक्षसः ) राक्षसों को ( घ्नन्तु ) मारें ॥ १७॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपराधी स्त्री पुरुषों को उनका दोष प्रकट करके दण्ड देवें ॥ १७॥

वि ति॑ष्ठध्वं मरुतो वि॒क्ष्वी॒३॒च्छत॑ गृभा॒यत॑ र॒क्षसः॒ सं पि॑नष्टन। वयो॒ ये भू॒त्वा प॒तय॑न्ति न॒क्तभि॒र्ये वा॒ रिपो॑ दधि॒रे दे॒वे अ॑ध्व॒रे॥ १८॥

१७—( प्र ) प्रकर्षे। बहिर्भावे ( या ) ( जिगाति ) गाङ् गतौ। परस्मैपदत्वं जुहोत्यादित्वं च छान्दसम्, जिगाति गतिकर्मा—निघ० २। १४। गच्छति ( खर्गला ) खड्ग+ला आदाने-क, डस्य रः। खड्गं गृह्णाना। यद्वा पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा० ३। ३। ११८। खर्ज पूजने व्यथने च—घप्रत्ययः। चजोः कु घिण्ण्यतोः। पा० ७। ३। ५२। इति कुत्वम्+ला दाने-क। व्यथादात्री। उलूक्यादिः ( इव ) यथा ( नक्तम् ) रात्रौ ( अपगूहमाना ) संवृण्वती। अप्रकाशयन्ती ( द्रुहुः ) म० ७। द्रोग्ध्री ( तन्वम् ) शरीरम्। स्वरूपम् ( वव्रम् ) म० ३। कूपम् ( अनन्तम् ) अनवधिकम् ( अव ) अवेत्य। अधोमुखी भूत्वा ( सा ) दुष्टा ( पदीष्ट ) म० १६। गम्यात् ( ग्रावाणः ) अ० ३। १०। ५। नृ विज्ञापे-क्वनिप्। सूक्ष्मदर्शिनः ( घ्नन्तु ) मारयन्तु ( रक्षसः ) राक्षसान् ( उपब्दैः ) अ० २। २४। ६। वाग्भिः—निघ० १। ११॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः । सम् । पिनष्टन ॥ वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्त-भिः । ये । वा । रिपः । दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—( मरुतः ) हे शत्रुमारक वीरो ! ( विक्षु ) मनुष्यों के बीच ( वि तिष्ठध्वम् ) फैल जाओ, ( रक्षसः ) उन राक्षसों को ( इच्छत ) ढूंढ़ो, ( गृभायत ) पकड़ो, ( सम् पिनष्टन ) पीस डालो ( ये ) जो ( वयः ) पक्षी [ समान ] ( भूत्वा ) होकर ( नक्तभिः ) रातों में [ विमान आदि से ] ( पतयन्ति ) उड़ते हैं, ( वा ) अथवा ( ये ) जिन्होंने ( देवे ) दिव्य गुण युक्त (अध्वरे) हिंसा रहित व्यवहार [ यज्ञ ] में ( रिपः ) हिंसायें ( दधिरे ) धरी हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—शूरवीर पुरुष चोर उचक्के आदि शुभ कर्मों में विघ्न डालने वाले दुष्टों को छान बीन करके नष्ट करे ॥ १८ ॥

प्र व॑र्तय दि॒वोऽश्मा॑नमिन्द्र॒ सोम॑शितं मघव॒न्त्सं शि॑शाधि ।
प्राक्तो अ॑पाक्तो अ॑ध॒राद् उ॑दक्तो॒३॒॑ऽभि ज॑हि र॒क्षसः॒ पर्व॑तेन ॥ १९ ॥

प्र । व॒र्त॒य॒ । दि॒वः । अश्मा॑नम् । इ॒न्द्र॒ । सोम॑-शितम् । म॒घ॒-व॒न् । सम् । शि॒शा॒धि॒ ॥ प्राक्तः । अ॒पाक्तः । अ॒ध॒रात् । उ॒द॒क्तः । अ॒भि । ज॒हि॒ । र॒क्षसः॑ । पर्व॑तेन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—( मघवन् ) हे महाधनी ! ( इन्द्र ) हे बड़े ऐश्वर्य वाले

१८—( वि ) विविधम् ( तिष्ठध्वम् ) तिष्ठत ( मरुतः ) अ० १ । २० । १ । शत्रुमारकाः शूराः ( विक्षु ) मनुष्येषु—निघ० २ । ३ ( इच्छत ) अन्विच्छत । अनुसंधत्त ( गृभायत ) अ० २ । ३० । ४ । गृह्णीत ( रक्षसः ) राक्षसान् ( सम् ) सम्यक् ( पिनष्टन ) चूर्णीकुरुत ( वयः ) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः—इण्, स च डित् । पक्षिणो यथा ( ये ) राक्षसाः ( भूत्वा ) ( पतयन्ति ) उड्डीयन्ते ( नक्तभिः ) रात्रिभिः ( ये ) ( वा ) ( रिपः ) हिंसाः । विघ्नान् ( दधिरे ) धृतवन्तः ( देवे ) दिव्यगुणयुक्ते ( अध्वरे ) अ० १ । ४ । २ । हिंसारहितव्यवहारे । यज्ञे—निघ० ३ । १७ ॥

१९—( प्रवर्तय ) प्रेरय ( दिवः ) आकाशात् ( अश्मानम् ) अशिशक्तिभ्य

राजन् ! ( सोमशितम् ) ऐश्वर्यवान् शिल्पी द्वारा तेज किये गये ( अश्मानम् ) व्यापने वाले पदार्थ पत्थर लोह आदि [ अथवा पत्थर समान दृढ़ हथियार ] को ( सम् ) सर्वथा ( शिशाधि ) तीक्ष्ण कर और ( दिवः ) आकाश से ( प्र वर्तय ) लुढ़का दे। ( प्राक्तः ) सामने से ( अपाक्तः ) दूर से, ( अधरात् ) नीचे से, ( उदक्तः ) ऊपर से ( रक्षसः ) राक्षसों को ( पर्वतेन ) पहाड़ [ बड़े हथियार ] से ( अभि ) सब ओर से ( जहि ) मार ॥ १९ ॥

**भावार्थ**—प्रतापी राजा गुणी शिल्पियों द्वारा आकाश से चलने वाले शस्त्र बनवाकर शत्रुओं को सब दिशाओं से नाश करे ॥ १९ ॥

**एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्। शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥ (१०)**

एते। ऊं इति। त्ये। पतयन्ति। श्व-यातवः। इन्द्रम्। दिप्सन्ति। दिप्सवः। अदाभ्यम् ॥ शिशीते। शक्रः। पिशुनेभ्यः। वधम्। नूनम्। सृजत्। अशनिम्। यातुमत्-भ्यः ॥२०॥(१०)

**भाषार्थ**—( एते ) यह [ देशीय ] ( उ ) और ( त्ये ) वे [ विदेशीय ] ( श्वयातवः ) कुत्ते समान पीड़ा देने वाले ( पतयन्ति ) उड़ते हैं और ( दिप्सवः ) दुःख देने वाले लोग ( अदाभ्यम् ) न दबने वाले ( इन्द्रम् ) प्रतापी

छन्दसि। उ० ४। १४। ७। अशू व्याप्तौ संघाते च-मनिन्। अश्मा मेघः—निघ० १। १०। व्यापनशीलं पाषाणलोहादिपदार्थम्, यद्वा पाषाणवद् दृढायुधम्, ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवन् राजन् ( सोमशितम् ) ऐश्वर्यवता महाशिल्पिना तीक्ष्णीकृतम् ( मघवन् ) महाधनिन् ( सम् ) सम्यक् ( शिशाधि ) अ० ४। ३१। ४। श्य। तीक्ष्णीकुरु ( प्राक्तः ) प्राक्-तसिल्। सम्मुखदेशात् ( अपाक्तः ) दूरदेशात् ( अधरात् ) अधः स्थानात् ( उदक्तः ) उपरिस्थानात् ( अभि ) सर्वतः ( जहि ) ( रक्षसः ) राक्षसान् ( पर्वतेन ) अ० ४। ६। १। शैलेन। महाशस्त्रेणेत्यर्थः ॥

२०—( एते ) स्वदेशवर्तिनः ( उ ) च ( त्ये ) ते विदेशिनः ( पतयन्ति ) उड्डीयन्ते ( श्वयातवः ) कुक्कुरसमानयातनावन्तः ( इन्द्रम् ) प्रतापिनं राजानम् ( दिप्सन्ति ) अ० ४। ३६। १। जिघांसन्ति ( दिप्सवः ) दम्भ हिंसायाम्—

राजा को ( दिप्सन्ति ) हानि करना चाहते हैं। ( शक्रः ) शक्तिमान् राजा ( पिशुनेभ्यः ) छली लोगों के लिये ( वधम् ) मारू हथियार ( शिशीते ) तेज करता है, वह ( नूनम् ) निश्चय करके ( अशनिम् ) वज्र को ( यातुमद्भ्यः ) पीड़ा देने वालों पर ( सृजत् ) छोड़ देवे ॥ २० ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और बाहिरी हानिकारक शत्रुओं को शस्त्र आदिकों से नष्ट करे ॥ २० ॥

**इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३ विवासताम्। अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥**

इन्द्रः। यातूनाम्। अभवत्। परा-शरः। हविः-मथीनाम्। अभि। आ-विवासताम् ॥ अभि। इत्। ऊं इति। शक्रः। परशुः। यथा। वनम्। पात्रा-इव। भिन्दन्। सतः। एतु। रक्षसः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा ( हविर्मथीनाम् ) ग्राह्य अन्न आदि पदार्थों के मथने वाले [ हलचल करने वाले ], ( आविवासताम् ) समीप निवासी ( यातूनाम् ) पीड़ा देने वालों का ( पराशरः ) कुचलने वाला ( अभि ) सब ओर से ( अभवत् ) हुआ है। ( शक्रः ) शक्तिमान् राजा ( इत् उ ) अवश्य ही, ( परशुः ) कुल्हाड़ा ( यथा ) जैसे ( वनम् ) वन को, ( पात्रा इव )

---

सन्—उप्रत्ययः। जिघांसवः ( अदाभ्यम् ) अ० ३। २१। ४। अजेयम् (शिशीते) अ० ५। १४। ६। श्यति। निशितं करोति ( शक्रः ) शक्तिमान् राजा (पिशुनेभ्यः) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित्। उ० ३। ५५। पिश अवयवे—उनन्। खलेभ्यः। सूचकेभ्यः ( वधम् ) मारकमायुधम् ( नूनम् ) निश्चयेन ( सृजत् ) उत् क्षिपेत् ( अशनिम् ) वज्रम् ( यातुमद्भ्यः ) हिंसावद्भ्यः ॥

२१—( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजा ( यातूनाम् ) पीडकानाम् ( अभवत् ) ( पराशरः ) अ० ६। ६५। १। विनाशकः ( हविर्मथीनाम् ) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। हविः+मन्थ विलोडने—इन्। हविषां ग्राह्यान्नादीनां विलोडकानाम् ( अभि ) सर्वतः ( आविवासताम् ) आङ्+वि+वस निवासे-शतृ। छन्दस्युभयथा। पा० ३। ४। ११७। आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः।

पात्रों के समान ( भिन्दन् ) तोड़ता हुआ, ( सतः ) विद्यमान ( रक्षसः ) राक्षसों पर ( अभि एतु ) चढ़ाई करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—पूर्वज पराक्रमी राजाओं के समान तेजस्वी राजा शत्रुओं का नाश करे, जैसे कुल्हाड़े से वन को काटते हैं अथवा मिट्टी के बासन को लाठी से तोड़ते हैं ॥ २१ ॥

उलू॑कयातुं शुशुलूक॑यातुं ज॒हि श्वया॑तुमु॒त कोक॑यातुम् ।
सु॒प॒र्णया॑तुमु॒त गृध्र॑यातुं दृ॒षदे॑व॒ प्र मृ॑ण॒ रक्ष॑ इन्द्र ॥ २२ ॥

उलू॑क-यातुम् । शु॒शु॒लूक॑-यातुम् । ज॒हि । श्व-या॑तुम् । उ॒त । कोक॑-यातुम् ॥ सु॒प॒र्ण-या॑तुम् । उ॒त । गृध्र॑-यातुम् । दृ॒षदा॑-इव । प्र । मृ॒ण॒ । रक्षः॑ । इ॒न्द्र॒ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे प्रतापी राजन् ! ( उलूकयातुम् ) उल्लू के समान झपटने वाले, ( शुशुलूकयातुम् ) बड़े अचेत के समान दुःखदायी, ( श्वयातुम् ) कुत्ते समान पीड़ा देने वाले ( उत ) और ( कोकयातुम् ) भेड़िया समान हिंसा करने वाले, ( सुपर्णयातुम् ) श्येन पक्षी समान शीघ्र चलने वाले ( उत ) और ( गृध्रयातुम् ) गिद्ध समान दूर पहुंचने वाले [ उपद्रवी ] को ( जहि ) मार

समीपनिवासिनाम् ( अभि एतु ) अभिगच्छतु ( इत् ) अवश्यम् ( उ ) एव ( शक्रः ) शक्तो राजा ( परशुः ) अ० ३ । १६ । ४ । कुठारः ( यथा ) ( वनम् ) वृक्षसमूहम् ( पात्रा ) मृण्मयानि पात्राणि ( इव ) यथा ( भिन्दन् ) विदारयन् ( सतः ) उपस्थितान् ( रक्षसः ) राक्षसान् ॥

२२—( उलूकयातुम् ) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । वल संवरणे—ऊक । कमिमनिजनि० । उ० १ । ७३ । या प्रापणे गतौ च—तु । उलूकवद् गन्तारम् ( शुशुलूकयातुम् ) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । शु+शुर मारणे स्तम्भे च-ऊक । सस्य शः, रस्य लः । यत ताडने—उण् । अचेतन्यपुरुषवत्पीडकम् ( जहि ) मारय ( श्वयातुम् ) म० २० । कुक्कुरसमानपीडकम् ( उत ) अपि च ( कोकयातुम् ) कुक आदाने—अच् । वृकवत्पीडकम् ( सुपर्णयातुम् ) श्येनव-

और ( दृषदा इव ) जैसे शिला से ( रक्षः ) राक्षस को ( प्र मृण ) नाश कर दे ॥२२॥

भावार्थ—नीतिकुशल राजा विविध प्रकार के उपद्रवियों को नाश करता रहे ॥ २२ ॥

मा नो रक्षो अभि नंड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः । पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रक्षः । अभि । नट् । यातु-मावत् । अप । उच्छन्तु । मिथुनाः । ये । किमीदिनः ॥ पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षम् । दिव्यात् । पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—( यातुमावत् ) पीड़ा रूप सम्पत्ति वाला ( रक्षः ) राक्षस ( नः ) हम तक ( मा अभि नट् ) कभी न पहुंचे, ( मिथुनाः ) हिंसक लोग, ( ये ) जो ( किमीदिनः ) लुतरे हैं, ( अप उच्छन्तु ) दूर जावें । ( पृथिवी ) पृथिवी ( नः ) हम को ( पार्थिवात् ) पार्थिव ( अंहसः ) कष्ट से ( पातु ) बचावे, ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष ( दिव्यात् ) आकाशीय [ कष्ट ] से ( अस्मान् ) हमें ( पातु ) बचावे ॥ २३ ॥

---

च्छीघ्रगामिनम् ( उत ) ( गृध्रयातुम् ) गृध्रवद्दूरगन्तारम् ( प्र ) प्रकर्षेण ( मृण ) नाशय ( रक्षः ) राक्षसम् ( इन्द्र ) प्रतापिन् राजन् ॥

२३—( नः ) अस्मान् ( रक्षः ) राक्षसः ( अभि ) अभितः ( मा नट् ) नशत् व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । नशतेर्लुङि । मन्त्रे घसह्वरणश० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । अडभावः । मा प्राप्नोतु ( यातुमावत् ) इन्दिरा लोकमाता मा । इत्यमरः १ । २६ । मा लक्ष्मीः । पीडारूपसम्पत्तियुक्तम् ( अप उच्छन्तु ) उच्छी विवासने । अप गच्छन्तु ( मिथुनाः ) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथृ वधे मेधायां च—उनन् । हिंसकाः ( ये ) ( किमीदिनः ) अ० १ । ७ । १ । पिशुनाः ( पृथिवी ) ( नः ) अस्मान् ( पार्थिवात् ) पृथिवीसम्बन्धिनः ( पातु ) ( अंहसः ) पीडनात् ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्षपदार्थजातम् ( दिव्यात् ) अन्तरिक्षे भवात् ( पातु ) ( अस्मान् ) ॥

भावार्थ—शत्रुनाशक राजा के शासन में प्रजागण सब उपद्रवों को हटाकर पार्थिव और आकाशीय पदार्थों के उपयोग से प्रसन्न रहें ॥ २३ ॥

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् । विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

इन्द्र । जहि । पुमांसम् । यातु-धानम् । उत । स्त्रियम् । मायया । शाशदानाम् ॥ वि-ग्रीवासः । मूर-देवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यम् । उत्-चरन्तम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे परम ऐश्वर्य वाले राजा ! ( यातुधानम् ) दुःखदायी ( पुमांसम् ) पुरुष को ( उत ) और ( मायया ) कपट से ( शाशदानाम् ) अति तीक्ष्ण स्वभाव वाली ( स्त्रियम् ) स्त्री को ( जहि ) नष्ट कर दे । ( मूरदेवाः ) मूढ़ [ निर्बुद्धि ] व्यवहार वाले ( विग्रीवासः ) ग्रीवा रहित होकर ( ऋदन्तु ) नष्ट हो जावें, ( ते ) वे ( उच्चरन्तम् ) उदय होते हुये ( सूर्यम् ) सूर्य को ( मा दृशन् ) न देखें ॥ २४ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवी स्त्री पुरुषों को कठिन दण्ड देकर नष्ट कर दे, जिससे वे उदय होते हुये सूर्य के समान फिर न उभरें ॥ २४ ॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् । रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतम् ॥

२४—( इन्द्र ) ( जहि ) ( पुमांसम् ) पुरुषम् ( यातुधानम् ) पीडाप्रदम् ( उत ) अपि ( स्त्रियम् ) ( मायया ) कपटेन ( शाशदानाम् ) अ० १ । १० । १ । अत्यर्थं तीक्ष्णस्वभावाम् ( विग्रीवासः ) असुगागमः । विच्छिन्नग्रीवाः ( मूरदेवाः ) अ० ८ । ३ । २ । मूढव्यवहारयुक्ताः ( ऋदन्तु ) वैदिकधातुः । नश्यन्तु ( ते ) पूर्वोक्ताः ( मा दृशन् ) मा द्राक्षुः ( सूर्यम् ) ( उच्चरन्तम् ) उद्यन्तम् ॥

रक्षः-भ्यः । वधम् । अस्यतम् । अशनिम् । यातुमत्-भ्यः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—( प्रति चक्ष्व ) प्रत्येक को देख, ( वि चक्ष्व ) विविध प्रकार देख, ( इन्द्रः ) हे सूर्य [ समान राजन् ! ] ( च ) और ( सोम ) हे चन्द्र [ समान मन्त्री ! ] ( जागृतम् ) तुम दोनों जागो । ( रक्षोभ्यः ) राक्षसों पर ( वधम् ) मारू हथियार और ( यातुमद्भ्यः ) पीड़ा स्वभाव वालों पर ( अशनिम् ) वज्र ( अस्यतम् ) चलाओ ॥ २५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार राजा और मन्त्री सुनीति से शत्रुओं का नाश करके प्रजापालन करते हैं, वैसे ही आचार्य-शिष्य, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि सुविद्या से आत्मदोष नाश करके आनन्दित हों ॥ २५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

# अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

## सूक्तम् ५ ॥

१–२२ ॥ १–६, १५ कृत्यादूषणाः ; १०, २०, २१ विश्वे देवाः ; ११, १३, १६ प्रजापतिः ; १४, १७, २२ इन्द्रः ; १८ मन्त्रोक्ताः ; १९ वर्म देवता ॥ १ उपरिष्टाद्बृहती ; २ त्रिपदा त्रिष्टुप् ; ३ भुरिज्जगती ; ४, ७, ८ विराडनुष्टुप् ; ५ संस्तारपङ्क्तिर्भुरिक् ; ६ उपरिष्टाद्बृहती ; ९ जगती ; १०, २१ विराट् त्रिष्टुप् ११ पथ्यापङ्क्तिः ; १२, १३, १६-१८ अनुष्टुप् ; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; १५ विराट् पुरस्ताद्बृहती ; १९ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २० आस्तारपंक्तिः ; २२ त्र्यवसाना सप्तपदा भुरिक् शक्वरी छन्दः ॥

हिंसाविनाशोपदेशः—हिंसा के नाश का उपदेश ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।

---

२५—( प्रति ) प्रत्येकम् ( चक्ष्व ) पश्य ( वि ) विविधम् ( चक्ष्व ) ( इन्द्रः ) हे सूर्यवत्तेजस्विन् राजन् ( च ) ( सोम ) हे चन्द्रवच्छान्तिस्वभाव मन्त्रिन् ( जागृतम् ) अनिद्रौ भवतम् ( रक्षोभ्यः ) दुष्टेभ्यः ( वधम् ) मारकमायुधम् ( अस्यतम् ) प्रक्षिपतम् ( अशनिम् ) वज्रम् ( यातुमद्भ्यः ) पीडास्वभावेभ्यः ॥

वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

अयम् । प्रति-सरः । मणिः । वीरः । वीराय । बध्यते ॥ वीर्य-वान् । सपत्न-हा । शूर-वीरः । परि-पानः । सु-मङ्गलः ॥१॥

भाषार्थ—( अयम् ) यह [ प्रसिद्ध वेदरूप ] ( वीरः ) पराक्रमी, ( वीर्यवान् ) सामर्थ्य वाला, ( सपत्नहा ) प्रतियोगियों का नाश करने वाला, ( शूरवीरः ) शूर वीर, ( परिपाणः ) सब ओर से रक्षा करने वाला, ( सुमङ्गलः ) बड़ा मङ्गल कारी, ( प्रतिसरः ) अग्रगामी, ( मणिः ) मणि [ उत्तम नियम ] ( वीराय ) वीर पुरुष में ( बध्यते ) बांधा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष मणिरूप सर्व श्रेष्ठ वेद नियम पर चलते हैं, वे सुरक्षित रह कर सदा आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः । प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्न-हा । सु-वीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ॥ प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ।२।

भाषार्थ—( अयम् ) यह [ प्रसिद्ध वेद रूप ] ( मणिः ) मणि [ उत्तम नियम ], ( सपत्नहा ) प्रतियोगियों का नाश करने वाला, ( सुवीरः ) बड़े

१—( अयम् ) सुप्रसिद्धो वेदरूपः ( प्रतिसरः ) अ० २ । ११ । २ । अग्रगामी ( मणिः ) अ० १-। २९ । १ । नियमरत्नम् । प्रशंसनीयो नियमः ( वीराय ) पराक्रमिणे पुरुषाय ( बध्यते ) संयुज्यते ( वीर्यवान् ) सामर्थ्यवान् ( सपत्नहा ) प्रतियोगिनाशकः ( शूरवीरः ) शूराणां मध्ये वीरः ( परिपाणः ) अ० २ । १७ । ७ । सर्वतो रक्षकः ( सुमङ्गलः ) अतिमङ्गलकारी ॥

२—( सुवीरः ) शोभनैर्वीरैर्युक्तः ( सहस्वान् ) बलवान् ( वाजी ) पराक्रमी ( सहमानः ) शत्रूणामभिभविता ( उग्रः ) प्रचण्डः ( प्रत्यक् ) अभिमुखम् । सम्मुखम् ( कृत्याः ) अ० ४ । ९ । ५ । हिंसाः । विघ्नान् ( दूषयन् ) खण्डयन् ( एति ) गच्छति । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

वीरों वाला, ( सहस्वान् ) महा बली ( वाजी ) पराक्रमी, ( सहमानः ) [ शत्रुओं का ] हराने वाला, ( उग्रः ) तेजस्वी ( वीरः ) वीर होकर ( कृत्याः ) हिंसाओं को ( दूषयन् ) नाश करता हुआ ( प्रत्यक् ) सन्मुख ( एति ) चलता है ॥ २ ॥

भावार्थ—पराक्रमी वीर पुरुष वैदिक नियमों को धारण करके विघ्नों को हटाते हुये आगे बढ़ते हैं ॥ २ ॥

**अ॒नेनेन्द्रो॑ म॒णिना॑ वृ॒त्रम॑हन्न॒नेना॒सुरा॒न् परा॑भावयन्मनी॒षी । अ॒नेना॑जय॒द् द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे अ॒नेना॑जय॒त् प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ३ ॥**

अ॒नेन॑ । इन्द्रः॑ । म॒णिना॑ । वृ॒त्रम् । अ॒ह॒न् । अ॒नेन॑ । अ॒सु॑रान् । परा॑ । अ॒भा॒व॒य॒त् । म॒नी॒षी ॥ अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ । अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । प्र॒-दिशः॑ । च॒त॑स्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( मनीषी ) महा बुद्धिमान् ( इन्द्रः ) बड़े प्रतापी पुरुष ने ( अनेन ) इस [ प्रसिद्ध वेद रूप ] ( मणिना ) मणि [ उत्तम नियम ] के द्वारा ( वृत्रम् ) अन्धकार ( अहन् ) मिटाया और ( अनेन ) इसी के द्वारा ( असुरान् ) असुरों को ( परा अभावयत् ) हराया ( अनेन ) इसी के द्वारा ( उभे ) दोनों ( इमे ) इन ( द्यावापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी लोक को ( अजयत् ) जीता और ( अनेन ) इसी के द्वारा ( चतस्रः ) चारो ( प्रदिशः ) दिशाओं को ( अजयत् ) जीता ॥ ३ ॥

३—( अनेन ) प्रसिद्धेन वेदरूपेण ( इन्द्रः ) प्रतापी सेनापतिः ( वृत्रम् ) अ० २ । ५ । ३ । अन्धकारम् ( अहन् ) हतवान् ( अनेन ) ( असुरान् ) सुरविरोधिनो दैत्यान् ( पराभावयत् ) पराभूतान् विनष्टानकरोत् ( मनीषी ) अ० ३ । ५ । ६ । मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा—निरु० ६ । १० । मेधावी ( अनेन ) ( अजयत् ) जितवान् ( द्यावापृथिवी ) सूर्यभूलोकौ ( उभे ) द्वे ( इमे ) प्रत्यक्षे ( अनेन ) ( अजयत् ) ( प्रदिशः ) प्रकृष्टा दिशःप्राच्याद्याः ( चतस्रः ) चतुः संख्याकाः ॥

भावार्थ—वेदानुगामी बुद्धिमान् पराक्रमी पुरुष सब वैरियों को मिटाकर सूर्य और पृथिवी आदि लोकों पर प्रभाव जमाकर चक्रवर्ती राजा हुये हैं, वैसा ही सब मनुष्यों को होना चाहिये ॥ ३ ॥

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः । ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

अयम् । स्राक्त्यः । मणिः । प्रति-वर्तः । प्रति-सरः ॥ ओजस्वान् । वि-मृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( अयम् ) यह [ प्रसिद्ध वेद रूप ] ( मणिः ) मणि [ श्रेष्ठ नियम ] ( स्राक्त्यः ) उद्यमशील, ( प्रतीवर्त्तः ) सब ओर घूमने वाला और ( प्रतिसरः ) अग्रगामी है । ( सः ) वह ( ओजस्वान् ) महाबली, ( विमृधः ) बड़े हिंसकों को ( वशी ) वश में करने वाला ( अस्मान् ) हमको ( सर्वतः ) सब ओर से ( पातु ) बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदानुगामी पुरुष बड़े ओजस्वी होकर शत्रुओं को वश में करके सब की रक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः । ते मे देवाःपुरोहिताः प्रतीचीःकृत्याःप्रतिसरैरजन्तु ॥५॥

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः । सविता । तत् । इन्द्रः ॥ ते । मे । देवाः । पुरः-

४—( अयम् ) म० १ ( स्राक्त्यः ) स्रक गतौ—क्तिन्, यत् । प्रति+वृतेर्घञ् । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ । इति दीर्घः । प्रज्ञादिभ्यश्च । पा० ५ । ४ । ३८ । स्वार्थेऽण । स्राक्त्यः-अ० २ । ११ । २ । उद्यमशीलः ( मणिः ) म० १ ( प्रतीवर्तः ) सर्वतोवर्तनः ( प्रतिसरः ) म० १ ( ओजस्वान् ) बलयुक्तः ( विमृधः ) अ० १ । २१ । १ । विशेषेण हिंसकान् ( वशी ) वश—इनि । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति सकर्मकत्वम् । वशयिता ( सः ) ( अस्मान् ) धार्मिकान् ( पातु ) ( सर्वतः ) ॥

हिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रति-सरैः । अजन्तु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( तत् ) यह [ पूर्वोक्त ] ( अग्निः ) अग्नि [ समान तेजस्वी पुरुष ( आह ) कहता है, ( तत् उ ) वही ( सोमः ) चन्द्र [ समान पोषक ] ( आह ) कहता है, ( तत् ) वही ( बृहस्पतिः ) बड़ी विद्याओं का स्वामी, ( सविता ) सब का प्रेरक ( इन्द्रः ) प्रतापी पुरुष । ( ते ) वे ( देवाः ) व्यवहार कुशल ( पुरोहिताः ) पुरोहित [ अग्रगामी पुरुष ] ( प्रतिसरैः ) अग्रगामी पुरुषों सहित ( मे ) मेरे लिये ( कृत्याः ) हिंसाओं को ( प्रतीचीः ) प्रतिकूल गति वाली करके ( अजन्तु ) हटावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष वेद विद्या का मान करते हैं और विद्वान् ही मनुष्यों को विघ्न से बचाते हैं ॥ ५ ॥

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् । ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

अन्तः । दधे । द्यावापृथिवी इति । उत । अहः । उत । सूर्यम् ॥ ते । मे । देवाः । पुरः-हिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रति-सरैः । अजन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( द्यावापृथिवी ) आकाश और पृथिवी को ( उत ) और ( अहः ) दिन ( उत ) और ( सूर्यम् ) सूर्य को ( अन्तः ) मध्य में [ हृदय में ] ( दधे ) मैं धारण करता हूं । ( ते ) वे ( देवाः ) व्यवहार कुशल ( पुरोहिताः )

५—( तत् ) पूर्वोक्तम् ( अग्निः ) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः ( आह ) ब्रवीति ( तदु ) तदेव ( सोमः ) चन्द्रवत् पोषकः ( आह ) (बृहस्पतिः ) बृहतीनां विद्यानां स्वामी ( सविता ) सर्वप्रेरकः ( तत् ) ( इन्द्रः ) प्रतापी जनः ( ते ) प्रसिद्धाः ( मे ) मह्यम् ( देवाः ) व्यवहारिणः ( पुरोहिताः ) अ० ३ । १६ । १ । अग्रगामिनः पुरुषाः ( प्रतीचीः ) प्रतिकूलगतीः कृत्वा ( कृत्याः ) म० २ । हिंसाः ( प्रतिसरैः) अग्रेसरैः सह ( अजन्तु ) क्षिपन्तु ॥

६—( अन्तः ) मध्ये ( दधे ) धरामि ( द्यावापृथिवी ) आकाशभूमी । तत्रत्यान् पदार्थान् ( उत ) अपि च ( अहः ) दिनम् ( उत ) ( सूर्यम् ) आदि-

पुरोहित [ अग्र गामी पुरुष ] ( प्रतिसरैः ) अग्र गामी पुरुषों सहित ( मे ) मेरे लिये ( कृत्याः ) हिंसाओं को ( प्रतीचीः ) प्रतिकूल गति वाली करके ( अजन्तु ) हटावें ॥ ६ ॥

**भावार्थ**—जो पुरुष अवकाश, पृथिवी आदि पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपयोग लेते हैं, वे विघ्न नाश करके आनन्दित रहते हैं ॥ ६ ॥

**ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।**
**सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥**

ये । स्राक्त्यम् । मणिम् । जनाः । वर्माणि । कृण्वते ॥ सूर्यः-इव । दिवम् । आ-रुह्य । वि । कृत्याः । बाधते । वशी ॥७॥

**भाषार्थ**—( ये ) जो ( जनाः ) जन ( स्राक्त्यम् ) उद्योग शील (मणिम्) मणि [ श्रेष्ठ नियम् ] को ( वर्माणि ) कवच ( कृण्वते ) बनाते हैं। [ उनके समान ] ( वशी ) वश में करने वाला पुरुष, (सूर्य इव) सूर्य के समान ( दिवम् ) आकाश में ( आरुह्य ) चढ़कर, ( कृत्याः ) हिंसाओं को ( वि बाधते ) हटा देता है ॥ ७ ॥

**भावार्थ**—जो पुरुष संयमी पुरुषों के समान जितेन्द्रिय होते हैं, वे बड़े यशस्वी होकर निर्विघ्न रहते हैं ॥ ७ ॥

**स्राक्त्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा ।**
**अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥**

स्राक्त्येन । मणिना । ऋषिणा-इव । मनीषिणा ॥ अजैषम् । सर्वाः । पृतनाः । वि । मृधः । हन्मि । रक्षसः ॥ ८ ॥

---

त्यम् । शिष्टं पूर्ववत्—म० ५ ॥

७—( ये ) ( स्राक्त्यम् ) म० ४ । उद्योगिनम् ( मणिम् ) म० १ । श्रेष्ठ-नियमम् ( जनाः ) लोकाः ( कृण्वते ) कुर्वते ( सूर्य इव ) ( दिवम् ) आकाशम् ( आरुह्य ) अधिष्ठाय ( वि ) विशेषेण ( कृत्याः ) हिंसाः ( बाधते ) निवारयति ) ( वशी ) वशयिता पुरुषः ॥

भाषार्थ—( स्राक्त्येन ) उद्योगशील ( मणिना ) मणि [ श्रेष्ठ नियम ] द्वारा ( मनीषिणा ) महाबुद्धिमान् ( ऋषिणा इव ) ऋषि के साथ होकर जैसे मैं ने ( सर्वाः ) सब ( पृतनाः ) सेनाओं को ( अजैषम् ) जीत लिया है, मैं ( मृधः ) हिंसक ( रक्षसः ) राक्षसों को ( वि हन्मि ) नाश करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऋषियों के समान पहिले से नियम धारण करके सब उपद्रवों को हटावें ॥ ८ ॥

**याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः । उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्याः अति ॥ ९ ॥**

याः । कृत्याः । आङ्गिरसीः । याः । कृत्याः । आसुरीः । याः । कृत्याः । स्वयम्-कृताः । याः । ऊं इति । च । अन्येभिः । आ-भृताः ॥ उभयीः । ताः । परा । यन्तु । परा-वतः । नवतिम् । नाव्याः । अति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—( याः ) जो ( कृत्याः ) हिंसायें ( आङ्गिरसीः ) ऋषियों करके कही गई हैं, ( याः ) जो ( कृत्याः ) हिंसायें ( आसुरीः ) असुरों करके की गई हैं, ( याः ) जो ( कृत्याः ) हिंसायें ( स्वयंकृताः ) अपने से की गई हैं, ( च उ ) और भी ( याः ) जो ( अन्येभिः ) दूसरे पुरुषों करके ( आभृताः )

८—( स्राक्त्येन ) म० ४ । उद्योगशीलेन ( मणिना ) म० १ । श्रेष्ठनियमेन ( मणिन ऋषिणा ) ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । प्रकृतिभावत्वं ह्रस्वत्वं च ( ऋषिणा ) अ० २ । ६ । १ । अतीन्द्रियार्थद्रष्ट्रा ( इव ) यथा ( मनीषिणा ) म० ३ । विपश्चिता ( अजैषम् ) जितवानस्मि ( सर्वाः ) ( पृतनाः ) अ० ३।२१।३। शत्रुसेनाः ( वि ) विशेषेण ( मृधः ) हिंसकान् ( हन्मि ) घातयामि ( रक्षसः ) राक्षसान् ॥

९—( याः ) ( कृत्याः ) हिंसाः । उपद्रवाः ( अङ्गिरसीः ) तेन प्रोक्तम् । पा० ४ । ३ । १०१ । अङ्गिरस्—अण्, ङीप् । आङ्गिरस्यः । अङ्गिरोभिर्ज्ञानवद्भिः प्रोक्ताः ( याः ) ( कृत्याः ) ( आसुरीः ) तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । असुर—अण् । आसुर्यः । असुरैरुपद्रविभिर्निर्मिताः ( याः ) ( कृत्याः ) ( स्वयंकृताः )

पहुंचाई गई हैं। ( उभयीः ) सम्पूर्ण ( ताः ) वे ( नवतिम् ) नब्बे ( नाव्याः ) नाव से उतरने योग्य नदियों को ( अति ) पार करके ( परावतः ) बहुत दूर देशों को ( परा यन्तु ) चली जावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिन हिंसाओं का विधान ऋषियों ने किया है और जिनको मनुष्य अपने आप बुद्धि विकार से करते हैं, अथवा जिन हिंसाओं को दूसरे उपद्रवी करते हैं उन सब को मनुष्य ज्ञान द्वारा सर्वथा अति दूर हटावें ॥ ६ ॥

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः। प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥ १० ॥(१२)

अस्मै। मणिम्। वर्म। बध्नन्तु। देवाः। इन्द्रः। विष्णुः। सविता। रुद्रः। अग्निः॥ प्रजा-पतिः। परमे-स्थी। वि-राट्। वैश्वानरः। ऋषयः। च। सर्वे ॥ १० ॥(१२)

भाषार्थ—( देवाः ) स्तुति योग्य पुरुष, [ अर्थात् ] ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला ( विष्णुः ) कामों में व्याप्ति वाला [ मन्त्री ] ( सविता ) प्रेरणा करनेवाला [ सेनापति ], ( रुद्रः ) ज्ञानदाता ( अग्निः ) अग्नि [ समान तेजस्वी आचार्य ] ( प्रजापतिः ) प्रजापालक, ( परमेष्ठी ) अति श्रेष्ठ [ मोक्ष ] पद में रहने वाला, ( विराट् ) अति प्रकाशमान, ( वैश्वानरः ) सब नरों का हितकारी परमेश्वर

---

आत्मना कृताः स्वबुद्धिविकारेण ( उ ) अपि ( च ) ( अन्येभिः ) अन्यैः ( आभृताः ) आहृताः। प्रापिताः ( उभयीः ) अ० ७। १०६। २। उभ पूर्तौ—कयन्, ङीप्। उभय्यः। सम्पूर्णाः ( ताः ) कृत्याः ( परा ) दूरे ( यन्तु ) गच्छन्तु ( परावतः ) दूरदेशान् ( नवतिम् ) बह्वीरित्यर्थः ( नाव्याः ) नौवयोधर्मविष०। पा० ४। ४। ६१। नौ-यत्। नावा तार्याः नदीः ( अति ) अतीत्य ॥

१०—( अस्मै ) पुरुषार्थिने शूराय ( मणिम् ) श्रेष्ठ नियमरूपम् ( वर्म ) कवचम् ( बध्नन्तु ) धारयन्तु ( देवाः ) स्तुत्याः पुरुषाः ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् ( विष्णुः ) कर्मसु व्यापको मन्त्री ( सविता ) प्रेरकः सेनापतिः ( रुद्रः ) अ० २। २७। ६। ज्ञानदाता ( अग्निः ) अग्निवत्तेजस्वी आचार्यः ( प्रजापतिः ) प्रजापालकः ( परमेष्ठी ) अ० १। ७। २। अतिश्रेष्ठे मोक्षपदे स्थितः ( विराट् )

( च ) और ( सर्वे ) सब ( ऋषयः ) ऋषि लोग ( अस्मै ) इस [ शूर पुरुष ] के ( मणिम् ) मणि [ श्रेष्ठ नियमरूप ] ( वर्म ) कवच ( बध्नन्तु ) बांधे ॥ १० ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य विद्वानों की सम्मति और परमात्मा के श्रेष्ठ नियमों में चलकर आनन्द पावें ॥ १० ॥

**उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥११॥**

**उत्-तमः । असि । ओषधीनाम् । अनड्वान् । जगताम्-इव । व्याघ्रः । श्वपदाम्-इव ॥ यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रति-स्पाशनम् । अन्तितम् ॥ ११ ॥**

भाषार्थ—( हे मनुष्य ! ] तू ( ओषधीनाम् ) तापनाशकों में ( उत्तमः ) उत्तम ( असि ) है, ( इव ) जैसे ( जगताम् ) गतिशीलों [ गौ आदि पशुओं ] में ( अनड्वान् ) [ रथ ले चलने वाला ] बैल और ( इव ) जैसे ( श्वपदाम् ) हिंसक पशुओं में ( व्याघ्रः ) बाघ [ है ] । ( यम् ) जिसको ( ऐच्छाम ) हमने चाहा था, ( तम् ) उस ( प्रतिस्पाशनम् ) प्रत्येक को छूने वाले, ( अन्तितम् ) प्रबन्ध करने वाले [ मणिरूप श्रेष्ठ नियम को ( अविदाम ) हमने पाया है ॥११॥

भावार्थ—उत्साही आत्मावलम्बी पुरुष भय छोड़ कर परमात्मा के नियमों को अङ्गीकार करके सुखी होते हैं ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का पूर्व भाग ( उतमो......श्वपदामिव ) अ० १६ । ३६ । ४ । में है ॥

---

अ० ४ । ११ । ७ । विविधं प्रकाशमानः ( वैश्वानरः ) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः परमेश्वरः ( ऋषयः ) अ० २ । ६ । १ । सन्मार्गदर्शकाः ( सर्वे ) समस्ताः ॥

११—( उत्तमः ) ( असि ) ( ओषधीनाम् ) अ० १ । २३ । १ । तापनाशकानां मध्ये ( अनड्वान् ) अ० ४ । ११ । १ । शकटवाहको बलीवर्दः ( जगताम् ) अ० १ । ३१ । ४ । गतिशीलानां गवादीनां मध्ये ( इव ) यथा ( व्याघ्रः ) अ० ४ । ३ । १ । हिंस्रपशुविशेषः ( श्वपदाम् ) शुन इव पादो येषाम् । हिंस्रपशूनां मध्ये ( इव ) ( यम् ) ( ऐच्छाम ) वयमिष्टवन्तः ( अविदाम ) विन्दतेर्लुङि च्लेरङ् । वयं लब्धवन्तः ( तम् ) ( प्रतिस्पाशनम् ) स्पश बाधनस्पर्शनयोः, णिच्-ल्युट् । प्रत्येकस्पर्शकम् ( अन्तितम् ) अ० ६ । ४ । २ । प्रबन्धकम् ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा । अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

सः । इत् । व्याघ्रः । भवति । अथो इति । सिंहः । अथो इति । वृषा ॥ अथो इति । सपत्न-कर्शनः । यः । बिभर्ति । इमम् । मणिम् १२

भाषार्थ—( सः ) वह पुरुष ( इत् ) ही ( व्याघ्रः ) बाघ, ( अथो ) और भी ( सिंहः ) सिंह, ( अथो ) और भी ( वृषा ) बलीवर्द [समान बलवान् ] ( अथो ) और भी ( सपत्नकर्शनः ) शत्रुओं का दुर्बल करने वाला ( भवति ) होता है, ( यः ) जो ( इमम् ) इस [ वेदरूप ] ( मणिम् ) मणि [ श्रेष्ठ नियम ] को ( बिभर्ति ) रखता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—वेदानुगामी पुरुष सब प्रकार शक्तिमान् होकर शत्रुओं का नाश करते हैं ॥ १२ ॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः । सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

न । एनम् । घ्नन्ति । अप्सरसः । न । गन्धर्वाः । न । मर्त्याः ॥ सर्वाः । दिशः । वि । राजति । यः । बिभर्ति । इमम् । मणिम् ॥१३॥

भाषार्थ—( एनम् ) उस पुरुष को ( न ) न तो ( अप्सरसः ) अप्सरायें [ आकाश में चलने वाली -बिजुलियां ], ( न ) न ( गन्धर्वाः ) गन्धर्व [ पृथिवी धारण करने वाले मेघ ] और ( न ) न ( मर्त्याः ) मनुष्य ( घ्नन्ति )

१२—( सः ) पुरुषः ( इत् ) एव ( व्याघ्रः ) व्याघ्र इव शक्तिमान् ( भवति) ( अथो ) अपि च ( सिंहः ) सिंह इव ( वृषा ) बलीवर्द इव ( अथो ) ( सपत्नकर्शनः ) कृश तनूकरणे—ल्युट् । शत्रूणां दुर्बलकरः ( यः ) ( बिभर्ति ) धरति ( इमम् ) प्रसिद्धं वेदरूपम् ( मणिम् ) म० १ । श्रेष्ठनियमम् ॥

१३—( न ) निषेधे ( एनम् ) आत्मज्ञानिनम् (घ्नन्ति) मारयन्ति ( अप्सरसः ) अ० ४ । ७ । २ । आकाशे सरणशीला विद्युतः ( न ) ( गन्धर्वाः ) अ०

मारते हैं। वह ( सर्वाः ) सब ( दिशः ) दिशाओं पर ( वि राजति ) शासन करता है, ( यः ) जो ( इमम् ) इस [ वेद रूप ] ( मणिम् ) मणि [ श्रेष्ठ नियम ] को ( बिभर्ति ) रखता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी पुरुषार्थी पुरुष विज्ञान द्वारा सर्वत्र राज्य करता है १३

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

कश्यपः । त्वाम् । असृजत । कश्यपः । त्वा । सम् । ऐरयत् ।
अबिभः । त्वा । इन्द्रः । मानुषे । बिभ्रत् । सम्-श्रेषिणे । अजयत् ।
मणिम् । सहस्र-वीर्यम् । वर्म । देवाः । अकृण्वत ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[ हे मणि, नियम ! ] ( कश्यपः ) सब देखने वाले परमेश्वर ने ( त्वाम् ) तुझे ( असृजत ) उत्पन्न किया है, ( कश्यपः ) सर्वदर्शी ईश्वर ने ( त्वा ) तुझे ( सम् ) यथावत् ( ऐरयत् ) भेजा है। ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने ( त्वा ) तुझको ( मानुषे ) मनुष्य [ लोक ] में ( अबिभः ) धारण किया है और उसने [ तुझे ] ( बिभ्रत् ) धारण करते हुये ( संश्रेषिणे ) संग्राम में ( अजयत् ) जय पाई है। [इसी से] ( देवाः ) विजय चाहने वाले वीरों ने ( सहस्रवीर्यम् ) सहस्रों सामर्थ्य वाले ( मणिम् ) मणि [ श्रेष्ठनियम ] को ( वर्म ) कवच ( अकृण्वत ) बनाया है ॥ १४ ॥

२ । १ । २ । पृथिवीधारका मेघाः ( न ) ( मर्त्याः ) मनुष्याः ( सर्वाः ) ( दिशः ) ( वि राजति ) विविधं शास्ति । अन्यत् पूर्ववत्—म० १२ ॥

१४—( कश्यपः ) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः सर्वद्रष्टा ( त्वाम् ) मणिम् ( असृजत् ) उत्पादितवान् ( कश्यपः ) ( त्वा ) ( सम् ) सम्यक् ( ऐरयत् ) प्रेरितवान् ( अबिभः ) अ० ६ । ८१ । ३ । धृतवान् ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् पुरुषः ( मानुषे ) अ० ४ । १४ । ५ । मनुष्यसम्बन्धिनि लोके ( बिभ्रत् ) धारयन् ( संश्रेषिणे ) श्यास्त्या० । उ० २ । ४६ । सम्+श्लिष संसर्गे—इनच्, लस्य रः । परस्परश्लेषणसाधने संग्रामे ( अजयत् ) जयं प्राप्तवान् ( मणिम् ) म० १ । श्रेष्ठनियमम् ( सहस्रवीर्यम् ) बहुसामर्थ्यम् ( वर्म ) भयनिवारकं कवचम् ( देवाः ) विजिगीषवः । शूराः ( अकृण्वत ) अकुर्वन् ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि जो मनुष्य परमेश्वरकृत नियमों पर श्रद्धा रखता है, वह विजयी होता है ॥ १४ ॥

**यस्त्वा॑ कृ॒त्याभि॒र्यस्त्वा॑ दी॒क्षाभि॑र्य॒ज्ञैर्यस्त्वा॒ जिघां॑सति।**
**प्र॒त्यक् त्वमि॑न्द्र॒ तं ज॑हि॒ वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ॥ १५ ॥**

यः। त्वा। कृ॒त्याभिः। यः। त्वा। दी॒क्षाभिः। य॒ज्ञैः। यः। त्वा। जिघां॑सति ॥ प्र॒त्यक्। त्वम्। इ॒न्द्र॒। तम्। ज॒हि॒। वज्रे॑ण। श॒त-प॑र्वणा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—( यः ) जो ( त्वा ) तुझे ( कृत्याभिः ) हिंसा क्रियाओं से, ( यः ) जो ( त्वा ) तुझे ( दीक्षाभिः ) आत्मनिग्रह व्यवहारों से, ( यः ) जो ( त्वा ) तुझे ( यज्ञैः ) संयोगों से ( जिघांसति ) मारना चाहता है। ( त्वम् ) तू ( इन्द्र ) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ! ( तम् ) उस को ( शतपर्वणा ) सैकड़ों पालन सामर्थ्य वाले ( वज्रेण ) वज्र से ( प्रत्यक् ) प्रत्यक्ष ( जहि ) नाश कर।१५।

भावार्थ—जो पाखण्डी मनुष्य उपद्रव करके अथवा कपट से आत्मनिग्रह और मित्रता आदि करके मारना चाहे, राजा उसको नाश करके प्रजा पालन करे ॥ १५ ॥

**अ॒यमिद् वै प्र॑तीव॒र्त ओज॑स्वान् संज॒यो म॒णिः।**
**प्र॒जां धनं॑ च रक्षतु परि॒पाणः॑ सुम॒ङ्गलः॑ ॥ १६ ॥**

अ॒यम्। इत्। वै। प्र॒ति-व॒र्तः। ओज॑स्वान्। स॒म्-ज॒यः। म॒णिः॥ प्र॒जाम्। धन॑म्। च॒। र॒क्ष॒तु॒। प॒रि॒-पानः॑। सु॒-म॒ङ्गलः॑ ॥ १६ ॥

१५—( यः ) ( त्वा ) इन्द्रम् ( कृत्याभिः ) अ० ४। ६। ५। हिंसाक्रियाभिः ( त्वा ) ( दीक्षाभिः ) दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु—अप्रत्ययः, टाप्। आत्मनिग्रहैः ( यज्ञैः ) संयोगव्यवहारैः ( जिघांसति ) हन्तुमिच्छति ( प्रत्यक् ) प्रत्यक्षम् ( त्वम् ) ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवन् राजन् ( तम् ) उपद्रविणम् ( जहि ) नाशय ( वज्रेण ) ( शतपर्वणा ) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। पॄ पालने पूर्तौ च—वनिप्। बहुपालनयुक्तेन ॥

भाषार्थ—( अयम् ) यह ( इत् वै ) अवश्य ही ( प्रतिवर्तः ) प्रत्यक्ष घूमने वाला, ( ओजस्वान् ) बलवान्, ( संजयः ) विजयी, ( परिपाणः ) परिरक्षक, ( सुमङ्गलः ) बड़ा मङ्गलकारी ( मणिः ) मणि [ श्रेष्ठ नियम ] ( प्रजाम् ) प्रजा ( च ) और ( धनम् ) धन की ( रक्षतु ) रक्षा करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—नियमवान् मनुष्य ही प्रजा और धन की रक्षा करते हैं ॥१६॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

असपत्नम् । नः । अधरात् । असपत्नम् । नः । उत्तरात् ॥ इन्द्र । असपत्नम् । नः । पश्चात् । ज्योतिः । शूर । पुरः । कृधि ॥१७॥

भावार्थ—( शूर ) हे शूर ( इन्द्र ) हे परमैश्वर्यवन् राजन् ! ( ज्योतिः ) ज्योति को ( नः ) हमारे लिये ( अधरात् ) नीचे से ( असपत्नम् ) शत्रु रहित, ( नः ) हमारे लिये ( उत्तरात् ) ऊपर से ( असपत्नम् ) शत्रु रहित, ( नः ) हमारे लिये ( पश्चात् ) पीछे से ( असपत्नम् ) शत्रुरहित ( पुरः ) सन्मुख ( कृधि ) कर ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा सब ओरसे शत्रुओं को नाश करके प्रजाकी रक्षाकरे ।१७

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहुर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ॥ वर्म । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । वर्म । धाता । दधातु । मे १८

१६—( अयम् ) ( इत् ) अवश्यम् ( वै ) एव ( प्रतिवर्तः ) म० ४ । प्रत्यक्षवर्तनशीलः ( ओजस्वान् ) बलवान् ( संजयः ) सम्यग् जेता ( मणिः ) म० १ । श्रेष्ठनियमः ( प्रजाम् ) ( धनम् ) ( च ) ( रक्षतु ) ( परिपाणः ) म० १ । परिरक्षकः ( सुमङ्गलः ) बहुश्रेयस्करः ॥

१७—( असपत्नम् ) शत्रुरहितम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( अधरात् ) अधोदेशात् ( उत्तरात् ) उपरिदेशात् ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवन् राजन् ( पश्चात् ) पृष्ठतः ज्योतिः ) प्रकाशम् ( शूर ) ( पुरः ) पुरस्तात् ( कृधि ) कुरु । अन्यत्पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—( मे ) मेरे लिये ( द्यावापृथिवी ) आकाश और भूमि ( वर्म ) कवच, ( अहः ) दिन ( वर्म ) कवच, ( सूर्यः ) सूर्य ( वर्म ) कवच, ( मे ) मेरे लिये ( इन्द्रः ) वायु ( च ) और ( अग्निः ) अग्नि [ जाठर अग्नि ] ( च ) भी ( वर्म ) कवच [ होवे ], ( धाता ) पोषण करने वाला परमेश्वर ( मे ) मेरे लिये ( वर्म ) कवच ( दधातु ) धारण करे ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा को विचार कर संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सदा उन्नति करे ॥ १८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—अ० १६ । २० । ४ । में भी है ॥

**ऐ॒न्द्रा॒ग्नं वर्म॑ बहु॒लं यदु॒ग्रं विश्वे॑ दे॒वा नाति॒विध्य॑न्ति सर्वे॑ । तन्मे॑ त॒न्वं᳡ त्रायतां स॒र्वतो॑ बृ॒हदायु॑ष्मां ज॒रद॑ष्टि॒र्यथासा॑नि ॥ १९ ॥**

**ऐ॒न्द्रा॒ग्नम् । वर्म॑ । ब॒हु॒लम् । यत् । उ॒ग्रम् । विश्वे॑ । दे॒वाः । न । अ॒ति॒-विध्य॑न्ति । सर्वे॑ ॥ तत् । मे॒ । त॒न्व᳡म् । त्रा॒य॒ता॒म् । स॒र्वतः॑ । बृ॒हत् । आयु॑ष्मान् । ज॒रत्-अ॑ष्टिः । यथा॑ । असा॑नि १९**

भाषार्थ—( ऐन्द्राग्नम् ) वायु और अग्नि का (वर्म) कवच ( बहुलम् ) बहुत अधिक और ( उग्रम् ) प्रचण्ड है, ( यत् ) जिसको ( विश्वे सर्वे ) सब की सब ( देवाः ) इन्द्रियां ( न ) नहीं ( अतिविध्यन्ति ) आरपार छेद सकती हैं। ( तत् ) वह ( बृहत् ) बड़ा [ कवच ] ( मे ) मेरे ( तन्वम् ) शरीरको

---

१८—( वर्म ) कवचम् । रक्षासाधनं भवतु ( मे ) मह्यम् ( द्यावापृथिवी ) आकाशभूमी ( अहः ) दिनम् ( सूर्यः ) आदित्यः ( इन्द्रः ) वायुः ( च ) (अग्निः) जाठराग्निः ( च ) अपि ( धाता ) पोषकः परमेश्वर ( दधातु ) धारयतु । अन्यद्गतम् ॥

१९—( ऐन्द्राग्नम् ) इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी । सास्य देवता । पा० ४ । २ । २४ । इत्यण् । इन्द्राग्निदेवताकम् । वायुपावकसम्बन्धम् ( वर्म ) कवचम् ( बहुलम् ) अ० ३ । १४ । ६ । अत्यधिकम् ( यत् ) (उग्रम्) प्रचण्डम् ( विश्वे सर्वे ) सर्व एव ( देवाः ) इन्द्रियाणि ( न ) निषेधे ( अतिविध्यन्ति ) अत्यन्तं छिन्दन्ति

( सर्वतः ) सब ओर से ( त्रायताम् ) पाले, ( यथा ) जिससे (आयुष्मान् ) बड़ी आयु वाला ( जरदष्टिः ) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला ( असानि ) मैं रहूं ॥ १६॥

भावार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में वायु अग्नि आदि पदार्थ अपरिमित हैं, उनसे मनुष्य यथावत् उपकार लेकर अपना जीवन और यश बढ़ावें ॥ १६ ॥

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥२०॥

आ । मा । अरुक्षत् । देव-मणिः । मह्यै । अरिष्ट-तातये ॥
इमम् । मेथिम् । अभि-संविशध्वम् । तनू-पानम् । त्रि-वरूथम् । ओजसे ॥ २० ॥

भाषार्थ—( देवमणिः ) दिव्य मणि [ श्रेष्ठ नियम ] ( मह्यै ) बड़ी ( अरिष्टतातये ) कुशलता के लिये ( मा ) मुझ पर ( आ अरुक्षत् ) आरूढ़ [ अधिकारवान् ] हुआ है। [ हे विद्वानो ! ] ( इमम् ) इस ( तनूपानम् ) शरीरपालक, ( त्रिवरूथम् ) तीन [ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ] रक्षा वाले ( मेथिम् ) दान में ( ओजसे ) बल के लिये ( अभिसंविशध्वम् ) सब ओर से मिलकर प्रवेश करो ॥ २० ॥

---

( तनू ) वर्म ( मे ) मम (तन्वम) तनूम्। शरीरम् ( त्रायताम् ) पालयतु ( सर्वतः) सर्वप्रकारेण ( बृहत् ) महत् ( आयुष्मान् ) दीर्घजीवनः ( जरदष्टिः ) अ० २। २८। ५। जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्य्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः ( यथा यस्मात् कारणात् ( असानि ) भवानि ॥

२०—( मा ) माम ( आ अरुक्षत् ) अ० ३। ५। ५। आरूढवान्। अधिष्ठितवान् ( देवमणिः ) दिव्यगुणो मणिः श्रेष्ठनियमः ( मह्यै ) महत्यै ( अरिष्टतातये ) अ० ३। ५। ५। कुशलकरणाय ( इमम् ) सुप्रसिद्धम् ( मेथिम् ) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। मेथृ वधे मेधायां च—इन्। बोधम् ( अभिसंविशध्वम् ) सर्वतो मिलित्वा प्रविशत, आश्रयध्वम् ( तनूपानम् ) शरीरपालकम् ( त्रिवरूथम् ) जॄवृञ्भ्यामूथन्। उ० २। ६। वृञ् स्वीकरणे संवरणे वा—ऊथन्। त्रीणि वरूथानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि रक्षणानि यस्मिंस्तम् ( ओजसे ) बलाय ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने प्रत्येक प्राणी के कुशल के लिये उत्तम नियम उत्पन्न किये हैं, सब विद्वान् लोग उनका आश्रय लेकर अपना बल बढ़ावें ॥ २० ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३ । ५ । ५ ॥

**अ॒स्मिन्निन्द्रो॒ नि द॑धातु नृ॒म्णमि॒मं दे॑वासो अ॒भिसं॑विशध्वम्। दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदा॒यायु॑ष्मान् ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑त् २१**

अ॒स्मिन् । इन्द्रः॑ । नि । द॒धा॒तु॒ । नृ॒म्णम् । इ॒मम् । दे॒वा॒सः॒ । अ॒भि-सं॑विशध्वम् ॥ दी॒र्घा॒यु॒-त्वाय॑ । श॒त-शा॑रदाय । आयु॑ष्मान् । ज॒रत्-अ॑ष्टिः । यथा॑ । अस॑त् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर ( अस्मिन् ) इस [ पुरुष ] में ( नृम्णम् ) बल वा धन ( शतशारदाय ) सौ शरद् ऋतु वाले ( दीर्घायुत्वाय ) दीर्घ आयु के लिये ( नि दधातु ) नियम से स्थापित करे, ( देवासः ) हे विद्वानो! ( इमम् ) इस [ ज्ञान—म० २० ] में ( अभिसंविशध्वम् ) सब ओर से मिलकर प्रवेश करो, ( यथा ) जिससे वह ( आयुष्मान् ) बड़े जीवन वाला और ( जरदष्टिः ) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला ( असत् ) होवे ॥ २१ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपदेश करें जिससे सब मनुष्य ईश्वर महिमा जानकर बल धन और यश बढ़ावें ॥ २१ ॥

**स्व॒स्ति॒दा वि॒शां पति॑र्वृत्र॒हा वि॑मृ॒धो व॒शी । इन्द्रो॑ बध्नातु ते म॒णिं जि॑गी॒वाँ अप॑राजितः सोम॒पा अ॑भयं-क॒रो वृषा॑ । स त्वा॑ रक्षतु स॒र्वतो॒ दिवा॒ नक्तं॑ च वि॒श्वतः॑ ॥ २२ ॥ ( १३ )**

२१—( अस्मिन् ) मनुष्ये ( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः ( नि ) नियमेन ( दधातु ) स्थापयतु ( नृम्णम् ) अ० ४ । २४ । ३ । बलं धनं वा ( इमम् ) म० २० । मेथिम् । बोधम् ( अभिसंविशध्वम् ) म० २० ( दीर्घायुत्वाय ) चिरजीवनाय ( शतशारदाय ) अ० १ । ३५ । १ । शतसंवत्सरयुक्ताय ( आयुष्मान् । जरदष्टिः । यथा ) म० १८ ( असत् ) भवेत् ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी ॥ इन्द्रः । बध्नातु । ते । मणिम् । जिगीवान् । अपरा-जितः । सोम-पाः । अभयम्-करः । वृषा ॥ सः । त्वा । रक्षतु । सर्वतः । दिवा । नक्तम् । च । विश्वतः ॥ २२ ॥ ( १३ )

भाषार्थ—( स्वस्तिदाः ) मङ्गल का देने हारा, ( विशाम् ) प्रजाओं का ( पतिः ) पालने हारा, ( वृत्रहा ) अन्धकार मिटाने हारा, ( विमृधः ) शत्रुओं को ( वशी ) वश में करने हारा, ( जिगीवान् ) विजयी, ( अपराजितः ) कभी न हराया गया, ( सोमपाः ) ऐश्वर्य की रक्षा करने हारा, ( अभयङ्करः ) अभय करने हारा, ( वृषा ) महाबली ( इन्द्रः ) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर ( ते ) तुझको [ हे मनुष्य ! ] ( मणिम् ) मणि [ श्रेष्ठ नियम ] ( बध्नातु ) बांधे। (सः) वह ( सर्वतः ) सब प्रकार ( दिवा नक्तं च ) दिन और रात ( विश्वतः ) सब ओर से ( त्वा ) तेरी ( रक्षतु ) रक्षा करे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना करके उत्तम नियमों का पालन कर सदा सुरक्षित रहें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का प्रथम भाग और कुछ अन्यपद आ चुके हैं—अ० १। २१। १॥

## सूक्तम् ६ ॥

१—२६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३, ४–६, १३, १८, २०—२६ अनुष्टुप्; २ बृहती ; १०, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; ११, १२, १४, १६ पथ्या पङ्क्तिः; १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी ; १९ भुरिगनुष्टुप् ॥

---

२२—अस्य मन्त्रस्य बहवः पदार्थाः साधिताः—अ० १। २१। १। अत्र तेषां पर्य्यायवाचिनो दीयन्ते ( स्वस्तिदाः ) क्षेमप्रदः ( विशां पतिः ) प्रजानां पालकः ( वृत्रहा ) अन्धकारनाशकः ( विमृधः ) शत्रून् ( वशी ) वशयिता ( इन्द्रः ) परमेश्वरः ( बध्नातु ) धारयतु ( ते ) तुभ्यम् ( मणिम् ) म० १। श्रेष्ठनियमम् ( जिगीवान् ) अ० ४। २२। ६। जयशीलः ( अपराजितः ) अनभिभूतः ( सोमपाः ) ऐश्वर्यरक्षकः ( अभयङ्करः ) अभयप्रदः ( वृषा ) महाबली ( सः ) इन्द्रः ( त्वा ) त्वाम् ( रक्षतु ) ( सर्वतः ) सर्वप्रकारेण ( दिवा ) दिने ( नक्तम् ) रात्रौ ( च ) ( विश्वतः ) सर्वासु दिक्षु ॥

गर्भरक्षोपदेशः—गर्भ की रक्षा का उपदेश ॥

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ १ ॥

यौ । ते । माता । उत्-ममार्ज । जातायाः । पति-वेदनौ ॥
दुः-नामा । तत्र । मा । गृधत् । अलिंशः । उत । वत्स-पः ॥१॥

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

पलाल-अनुपलालौ । शर्कुम् । कोकम् । मलिम्लुचम् । पलीजकम् ॥ आ-श्रेषम् । वव्रि-वाससम् । ऋक्ष-ग्रीवम् । प्र-मीलिनम् ॥ २ ॥

भावार्थ—[ हे स्त्री ! ] ( ते जातायाः ) तुझ उत्पन्न हुई की ( माता ) माता ने [ तेरे ] ( यौ ) जिन दोनों ( पतिवेदनौ ) ऐश्वर्य प्राप्त करने वालों [ अर्थात् स्तनों ) को ( उन्ममार्ज ) यथावत् धोया था। ( तत्र ) उन दोनों में [ हो जाने वाला ] ( अलिंशः ) शक्ति घटाने वाला ( उत ) और ( वत्सपः ) बच्चे नाश करने वाला (दुर्णामा ) दुर्नामा [ दुष्ट नाम वाला थनेला आदि रोग का कीड़ा ], ( पलालानुपलालौ ) मांस [ का बढ़ाव ] रोकने वाले और लगातार पुष्टि रोकने वाले, ( शर्कुम् ) क्लेश करने वाले, ( कोकम् ) भेड़िया [समान

१, २—( यौ ) ( ते ) तव (माता ) जननी ( उन्ममार्ज )उत्कर्षेण शोधितवती ( जातायाः ) उत्पन्नायाः ( पतिवेदनौ ) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। पत ऐश्वर्ये—इन्+विद्लृ लाभे-ल्युट्। ऐश्वर्यप्रापकौ, स्तनावित्यर्थः (दुर्णामा) दुर् दुष्टं नाम यस्य। दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा—निरु० ६। १२। पापनामा पापप्रदेशे नतः परिणतः उत्पन्नः। इति देवराजयज्वा निरुक्तटीकाकारः। नामन्सीमन्व्योमन्०। उ० ४। १५१। म्ना अभ्यासे—मनिन्, यद्वा नमतेर्वा नमयतेर्वा-मनिन्। अथवा, नञ्पूर्वःअम रोगे—मनिन्, सर्वत्र निपातनात् सिद्धिः। उत्तरव्युत्पत्तौ ( दुर्णामा ) इति पदे द्वौ प्रतिषेधकौ एकं निश्चयं द्योतयेते, रोग-

बल छीनने वाले ], ( मलिम्लुचम् ) मलिन चाल वाले, ( पलीजकम् ) चेष्टा में दोष लगाने वाले, ( आश्रेषम् ) अत्यन्त दाह वा कफ़ करने वाले, ( वव्रिवाससम् ) रूप हरलेने वाले, ( ऋक्षग्रीवम् ) गला दुखाने वाले, ( प्रमीलिनम् ) आखें मूंद देने वाले, [ क्लेश ] को ( मा गृधत् ) न चाहे ॥ १, २ ॥

भावार्थ—स्त्री सावधान रहे कि जिन स्तन आदि अङ्गों को उसकी माता ने जन्म दिन पर धोकर नीरोग बानाया था, उनमें रोग के कीड़े हो जाने के कारण बल हीन होकर बच्चे के दुःखदायी क्लेश न उत्पन्न हों ॥ १, २ ॥

---

कारकः—इन्धर्थः । नाम=उदकम्—निघ० १ । १२ । अतिक्रूररोगः । दुर्नाम अर्शो रोग इति शब्दकल्पद्रुमः ( तत्र ) स्तनद्वये वर्तमानः ( मा गृधत् ) गृधु अभिकांक्षायाम्. माङि लुङि पुषादित्वादङ् । मा लिप्सेत ( अलिंशः ) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु—इन् । खश्च डिद्वा वक्तव्यः । वा० पा० ३ । २ । ३८ । अलि + शंसु हिंसायाम्—खच्, स च डित्, मुम् च । शक्तिहिंसकः ( उत ) अपि च ( वत्सपः ) वत्स—पा पाने—क । वत्सपिवः । शिशुनाशकः ( पलालानुपलालौ ) पल गतौ रक्षणे च + अल वारणे—क । पलस्य मांसस्य वर्जकं निरन्तरगतिनिवारकं च तौ क्लेशौ ( शर्कुम् ) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शॄ हिंसायाम्—विच् । आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । शर् + डुकृञ् करणे—कु, स च डित् । क्लेशकरम् ( कोकम् ) कुक आदाने—पचाद्यच् । वृकं यथा बलस्य संहर्तारम् ( मलिम्लुचम् ) ज्योत्स्नातमिस्रा० । पा० ५ । २ । ११४ । मल—इनच् मत्वर्थे निपात्यते । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । म्लुच स्तेयकरणे-क, पृषोदरादित्वात् नलोपः । मलिम्लुचः स्तेनः—निघ० ३ । २४ । मलिनगतियुक्तम् ( पलीजकम् ) पल गतौ—विच् + ईज गतौ—ण्वुल् । चेष्टादूषकम् ( आश्रेषम् ) आ + श्लिष दाहे संसर्गे च—घञ् । लस्य रः । समन्तात् दाहकरं कफकरं वा ( वव्रिवाससम् ) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । वृञ् वरणे—कि द्विर्वचनम्, कित्वात् गुणाभावः, यणादेशः । वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः- निरु० २ । ९ । वसेर्णित् । उ० ४ । ४१८ । वस अपहरणे—असुन् । रूपनाशकम् ( ऋक्षग्रीवम् ) ऋक्ष वधे-अच् । ऋक्षः क्लेशो ग्रीवायां यस्य तम् । वाहिताग्न्यादिषु । पा० २ । २ । ३७ । इति सप्तमी परा (प्रमीलिनम्) मील संकोचे—णिनि । प्रतिक्षणं संकुचन्नेत्रम् ॥

मन्त्र १ तथा २ युग्मक हैं ॥ ( दुर्णामा ) का अर्थ "कीड़े पापनामा अर्थात् बुरे स्थान में झुके वा उत्पन्न" किया है—देखो निरुक्त ६। १२ और देवराज यज्वा की टीका ॥

**मा सं वृ॑तो मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृपोऽन्त॒रा ।**
**कृ॒णोम्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॒र्णा॑म॒चात॑नम् ॥ ३ ॥**

मा । सम् । वृ॒तः । मा । उप॑ । सृ॒पः । ऊ॒रू इति॑ । मा । अव॑ । सृ॒पः । अ॒न्त॒रा ॥ कृ॒णोमि॑ । अ॒स्यै॒ । भे॒ष॒जम् । ब॒जम् । दुः॒-नाम॑-चात॑नम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[ हे रोग ! ] ( मा सम् वृतः ) तू मत घूमता रह, ( मा उप सृपः ) मत रींगता आ, ( ऊरू अन्तरा ) दोनों जांघों के बीच ( मा अव सृपः ) मत सरकता जा। ( अस्यै ) इस [ स्त्री ] के लिये ( दुर्णामचातनम् ) दुर्नाम-नाशक [ दुष्ट नाम रोग मिटाने वाले ] ( बजम् ) बलवान् ( भेषजम् ) औषध को ( कृणोमि ) बनाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य गर्भिणी स्त्री के लिये उत्तम ओषधि बनावे जिस से उसको कोई कठिन रोग न होवे ॥

**दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।**
**अ॒राया॒नप॑ हन्मः सु॒नामा॒ स्त्रैण॑मिच्छताम् ॥ ४ ॥**

दुः॒-नामा॑ । च॒ । सु॒-नामा॑ । च॒ । उ॒भा । स॒म्-वृत॑म् । इ॒च्छ॒तः ॥ अ॒राया॑न् । अप॑ । ह॒न्मः॒ । सु॒-नामा॑ । स्त्रैण॑म् । इ॒च्छ॒ताम् ॥ ४ ॥

३—( मा सम् वृतः ) द्युद्भ्यो लुङि । पा० १ । ३ । ९१ । इति वृतु वर्तने परस्मैपदम्, द्युतादित्वाद् अङ् । संवर्तनं मा कुरु ( मोप सृपः ) उपसर्पणं मा कार्षीः ( ऊरू अन्तरा ) अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया । जानूपरिभागयोर्मध्ये ( माव सृपः ) अवाक सर्पणं मा कुरु ( कृणोमि ) करोमि ( अस्यै ) गर्भिण्यै ( भेषजम् ) औषधम् ( बजम् ) वज गतौ—अच्, वस्य बः । बलकरम् ( दुर्णामचातनम् ) चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । अतिकठिन-रोगस्य विनाशकम् ॥

भाषार्थ—( दुर्णामा ) दुर्नाम [ कठिन रोग ] ( च ) और ( सुनामा ) सुनाम [ स्वस्थपन ] ( च ) भी ( उभा ) दोनों ( संवृतम् ) समीप रहना ( इच्छतः ) चाहते हैं। ( अरायान् ) अलक्ष्मी वाले [ रोगों ] को ( अप हन्मः ) हम मिटाते हैं, ( सुनामा ) सुनाम [ स्वस्थपन ] ( स्त्रैणम् ) स्त्री सम्बन्धी [ शरीर ] को ( इच्छताम् ) चाहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य समीपवर्ती रोग के कारणों को रोककर गर्भिणी का स्वास्थ्य बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । केशी । असुरः । स्तम्ब-जः । उत । तुण्डिकः ॥
अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप । हन्मसि ५

भाषार्थ—( यः ) जो [ रोग ] ( कृष्णः ) काला, ( केशी ) बहुत क्लेश वा बहुत केश वाला ( असुरः ) गिरानेवाला, ( स्तम्बजः ) बैठने के अङ्ग में उत्पन्न होनेवाला ( उत ) और ( तुण्डिकः ) कुरूप थूथन वा कुरूप नाभि वाला [ है ]। ( अरायान् ) अलक्ष्मीवाले [ उन रोगों ] को ( अस्याः ) इस [ स्त्री ]

४—( दुर्णामा ) म० १। दुष्टरोगः ( च ) ( सुनामा ) सुभगः। स्वस्थभावः ( च ) ( उभा ) द्वौ ( संवृतम् ) वृतु वर्तने-क्विप्। समीपवर्तनम् ( इच्छतः ) ( अरायान् ) अ० २। २५। ३। अलक्ष्मीकान् रोगान् ( अप हन्मः ) विनाशयामः ( सुनामा ) ( स्त्रैणम् ) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्। पा० ४। १। ८७। स्त्री—नञ्। स्त्रीसम्बन्धि शरीरम् ( इच्छताम् ) आत्मने पदं छान्दसम्। इच्छतु ॥

५—( यः ) रोग ( कृष्णः ) कालवर्णः ( केशी ) केश—इनि। क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५। ३३। क्लिश उपतापे अन्। क्लेशी। यद्वा के मस्तके शेते, शीङ् शयने—अच्, अलुक्समासः। बहुबालयुक्तः ( असुरः ) असेरुरन्। उ० १। ४२। असु क्षेपणे—उरन्। क्षेप्ता ( स्तम्बजः ) स्थः स्तोऽम्बजवकौ। उ० ४। ९६। तिष्ठतेः—अम्बच्, स्तादेशः। स्तम्बे स्थित्यङ्गे जातः ( उत ) अपि च

के ( मुष्काभ्याम् ) दोनों अण्ड कोशों से और ( भंससः ) गुप्त स्थान से ( अप हन्मसि ) हम मिटाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग गर्भिणी स्त्री के मर्म स्थानों के कुरोगों की चिकित्सा करते रहें, जिससे बालक बलवान् और नीरोग हो ॥ ५ ॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो ब्रजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनु-जिघ्रम् । प्र-मृशन्तम् । क्रव्य-अदम् । उत । रेरिहम् ॥
अरायान् । श्व-किष्किणः । ब्रजः । पिङ्गः । अनीनशत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( अनुजिघ्रम् ) लगातार सुड़कनेवाले, ( प्रमृशन्तम् ) छूजाने वाले ( क्रव्यादम् ) मांस खानेवाले ( उत ) और ( रेरिहम् ) अति चोट करने वाले [ ऐसे ] ( अरायान् ) अलक्ष्मी वाले और ( श्वकिष्किणः ) कुत्ते समान सताने वाले [ रोगों ] को ( ब्रजः ) बली और ( पिङ्गः ) पराक्रमी [ पुरुष ] ने ( अनीनशत् ) नाश करदिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—बलवान् और पराक्रमी स्त्री पुरुषों को शरीर का मांस और बल घटानेवाले रोग नहीं सताते हैं ॥ ६ ॥

---

( तुण्डिकः ) सर्वधातुभ्य इन्—उ० ४ । ११८ । तुडि तोडने—इन् । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति-क । कुरूपमुखः । कुत्सितनाभः ( अरायान् ) अलक्ष्मीकान् रोगान् ( अस्याः ) गर्भिण्याः ( मुष्काभ्याम् ) अण्डकोशाभ्याम् ( भंससः ) अ० २ । ३३ । ५ । गुह्यस्थानात् ( अपहन्मसि ) विनाशयामः ॥

६—( अनुजिघ्रम् ) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । अनु + घ्रा गन्धोपादाने—शः । पाघ्राध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । जिघ्रादेशः । निरन्तरं घ्राणशीलम् ( प्रमृशन्तम् ) मृश स्पर्शने—शतृ । प्रकर्षेण स्पर्शशीलम् ( क्रव्यादम् ) मांसभक्षकं रोगम् ( उत ) अपि च ( रेरिहम् ) रिह हिंसादिषु, यङि लुकि—पचाद्यच् । अतिहिंसकम् ( अरायान् ) अलक्ष्मीकान् ( श्वकिष्किणः ) किष्क हिंसायाम—णिनि । कुक्कुरसदृशपीडकान् ( ब्रजः ) म० ३ । बली ( पिङ्गः ) पिजि बले दीप्तौ च—अच्, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । पा० ७ । ३ । ५३ । पराक्रमी पुरुषः ( अनीनशत् ) अ० १ । १२७ । २ । नाशितवान् ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥
यः । त्वा । स्वप्ने । नि-पद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिता-इव । च ॥ बजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीब-रूपान् । तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[ हे स्त्री ! ] ( यः ) जो कोई ( त्वा ) तेरे पास ( स्वप्ने ) सोते में ( भ्राता ) भाई [ समान ] ( च ) और ( पिता इव ) पिता के समान ( भूत्वा ) होकर ( निपद्यते ) आ जावे । ( बजः ) बली [ पुरुष ) ( तान् ) उन सब ( क्लीबरूपान् ) हिजड़े [ समान ] रूपवाले (तिरीटिनः) घातकों को (इतः) यहां से ( सहताम् ) हरा देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पति आदि सावधान रहें कि कोई छली पुरुष गर्भिणी को सोते में न सतावे ॥ ७ ॥

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥
यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ॥ छायाम्-इव । प्र । तान् । सूर्यः । परि-क्रामन् । अनीनशत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( यः ) जो कोई ( त्वा ) तुझ ( स्वपन्तीम् ) सोती हुई को

---

७—( यः ) पुरुषः ( त्वा ) गर्भिणीम् ( स्वप्ने ) निद्रायाम् ( निपद्यते ) अभिगच्छति । प्राप्नोति ( भ्राता ) सहोदर इव ( भूत्वा ) विश्वासं जनयन् ( पिता इव ) जनक इव, तद्रूपधारी ( च ) ( बजः ) मं० ३ । बली पुरुषः ( तान् ) ( सहताम् ) अभिभवतु ( इतः ) अत्र ( क्लीबरूपान् ) षण्ढरूपधारिणः ( तिरीटिनः ) कृतॄकृपिभ्यः कीटन् । उ० ४ । १८५ । तॄ अभिभवे—कीटन् , मत्वर्थे इनि । अभिभवशीलान् । घातकान् ॥

८—( यः ) ( त्वा ) त्वाम् ( स्वपन्तीम् ) निद्रावतीम् ( त्सरति ) त्सर

( त्सरति ) छलता है, ( यः ) जो ( त्वा ) तुझ ( जाग्रतीम् ) जागती हुई को ( दिप्सति ) मारना चाहता है। ( परिक्रामन् ) घूमते हुये ( सूर्यः ) सूर्य [समान पुरुष ] ने ( तान् ) उन सब को (छायाम् इव) छाया के समान ( प्र अनीनशत् ) नाश कर दिया है ॥ ८ ॥

**भावार्थ**—सावधान पति आदि सोती और जागती गर्भिणी के पास से दुष्टों को ऐसे हटावें जैसे परिक्रमा करता हुआ सूर्य अन्धकार को ॥ ८ ॥

मन्त्र ७ तथा ८ का मिलान करो—ऋग्वेद १० । १६२ । ५, ६ ॥

**यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।**
**तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥**

**यः । कृणोति । मृत-वत्साम् । अव-तोकाम् । इमाम् । स्त्रियम् ॥ तम् । ओषधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अञ्जिवम् ॥ ९ ॥**

**भाषार्थ**—( यः ) जो [ रोग ] ( इमाम् ) इस ( स्त्रियम् ) स्त्री को ( मृतवत्साम् ) मरे बच्चे वाली और ( अवतोकाम् ) पतितगर्भ वाली ( कृणोति ) करता है। ( ओषधे ) हे ओषधि ! [ अन्न आदि पदार्थ ] ( त्वम् ) तू ( अस्याः ) इस [ स्त्री ] के ( तम् ) उस ( कमलम् ) कामना रोकनेवाले और ( अञ्जिवम् ) कान्ति [ शोभा ] हरनेवाले [ रोग ] को ( नाशय ) नाश कर ॥ ९ ॥

---

छद्मगतौ । कपटेन प्राप्नोति ( यः ) ( त्वा ) ( दिप्सति ) अ० ४ । ३६ । १ । हन्तुमिच्छति ( जाग्रतीम् ) प्रबुद्धाम् ( छायाम् ) अन्धकारम् ( इव ) यथा ( तान् ) सर्वान् ( सूर्यः ) ( परिक्रामन् ) आकाशे परिभ्रमन् ( अनीनशत् ) नाशितवान् ॥

९—( यः ) रोगः ( कृणोति ) करोति ( मृतवत्साम् ) मृतबालकाम् ( अवतोकाम् ) अवपन्नगर्भाम् ( इमाम् ) गर्भिणीम् ( स्त्रियम् ) ( तम् ) रोगम् ( ओषधे ) अ० १ । ३० । ३ । अन्नादिपदार्थ ( त्वम् ) ( नाशय ) निवारय ( अस्याः ) गर्भिण्याः ( कमलम् ) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कमु कान्तौ—णिच्+अल वारणे—अच् । कामनावारकम् ( अञ्जिवम् ) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—इन् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । अञ्जि+वा गतिगन्धनयोः—क । कान्तिनाशकम् । शोभाहर्तारम् ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि स्त्री उत्तम अन्न ओषधि आदि के सेवन से नीरोग रहकर बालक की पालना और फिर भी गर्भ की रक्षा करके कामना पूरी करती हुई शोभा बढ़ावे ॥ ६ ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय १० (१४)

ये । शालाः । परि-नृत्यन्ति । सायम् । गर्दभ-नादिनः ॥ कुसूलाः । ये । च । कुक्षिलाः । ककुभाः । करुमाः । स्रिमाः ॥ तान् । ओषधे । त्वम् । गन्धेन । विषूचीनान् । वि । नाशय १०(१४)

भाषार्थ—( ये ) जो ( गर्दभनादिनः ) गधे समान नाद करनेवाले [कीड़े] ( सायम् ) सायंकाल में ( शालाः ) घरों के ( परिनृत्यन्ति ) आस पास नाचते हैं । ( च ) और ( ये ) जो ( कुसूलाः ) चिपट जानेवाले [ अथवा अन्न के कोठे के समान आकार वाले ], ( कुक्षिलाः ) बड़े पेटवाले, ( ककुभाः ) शरीर में टेढ़े दिखाई देने वाले, ( करुमाः ) मन को पीड़ा देने वाले, ( स्रिमाः ) चलने फिरने वाले [वा सुखाने वाले ] हैं । ( ओषधे ) हे ओषधि ! [वैद्य] ( त्वम् ) तू (गन्धेन) गन्ध से ( तान् ) उन ( विषूचीनान् ) फैले हुये [ कीड़ों ] को ( वि नाशय ) विनष्ट कर दे ॥ १० ॥

---

१०—( ये ) मशकादयः कृमयः ( शालाः ) गृहाणि ( परिनृत्यन्ति ) परितो नृत्यन्ति ( सायम् ) दिनान्ते ( गर्दभनादिनः ) गर्दभसमानघोषयुक्ताः (कुसूलाः) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ । उ० ४ । ६० । कुस श्लेषे-ऊल । श्लेषणशीलाः । यद्वा, कुसूलाकृतयः, अन्नकोष्ठकाकाराः ( ये ) ( च ) ( कुक्षिलाः ) प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । कुष निष्कर्षे-क्सि । प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । ६६ । बाहुलकात् लच् मत्वर्थे । बृहत्कुक्षयः । महोदराः ( ककुभाः ) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । क+कु+भा दीप्तौ-क । के देहे कु कुत्सितं भान्ति ये ते ( करुमाः ) रुच दीप्तौ-ड । अविसिविशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । रुङ् वधे-मन्, कित् । कं मनो रवन्ते ये । मनः-पीडकाः ( स्रिमाः ) अविसिवि० । उ० १ । १४४ । स्रिवु गतिशोषणयोः—मन्,

भावार्थ—मनुष्य कस्तूरी, केशर, कपूर, अगर, तगर, आदि द्रव्य पदार्थों का अग्नि में होम करके रोगजनक क्रिमियों को घर से नाश करें ॥१०॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति। क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥११॥

ये। कुकुन्धाः। कुकूरभाः। कृत्तीः। दूर्शानि। बिभ्रति ॥ क्लीबाः-इव। प्र-नृत्यन्तः। वने। ये। कुर्वते। घोषम्। तान्। इतः। नाशयामसि ॥ ११ ॥

भाषार्थ—( ये ) जो ( कुकुन्धाः ) कुत्सित ध्वनि रखने वाले [ भिन-भिनाने वाले ], ( कुकूरभाः ) भूमि के अग्नि समान चमकने वाले [ कीड़े ] ( कृत्तीः ) कतरनियों [ छेदन शक्तियों ] और ( दूर्शानि ) दुष्ट हिंसाकर्मों को ( बिभ्रति ) रखते हैं। ( ये ) जो ( क्लीबाः इव ) हीजड़ों के समान।( प्रनृत्यन्तः ) नाचते हुये [ कीड़े ] ( वने ) घर में ( घोषम् ) कूक ( कुर्वते ) करते हैं, ( तान् ) उन को ( इतः ) यहां से ( नाशयामसि ) हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

---

किट्। लोपो व्योर्वलि। पा० ६। १। ६६। वलोपः। गतिशीलाः। शोषकाः ( तान् ) क्रिमीन् ( ओषधे ) ( त्वम् ) (गन्धेन) हव्यद्रव्यगन्धेन ( विषूचीनान् ) अ०।३।७।१। विषु+अञ्चतेः—क्विन्, खप्रत्ययः। सर्वतोगतीन् (विनाशय)॥

११—( ये ) कृमयः ( कुकुन्धाः ) कु कुत्सितम्। डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्। वा० पा० ३।२। १८०। कु शब्दे—डु। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३।२।३। कु+कु+दधातेः—क। अलुक्समासः। कुत्सितध्वनिधारकाः ( कुकूरभाः ) कोःभूमेः कूलं कुत्सितं वा कूलम्, कु शब्दे—ऊलच्, धातोः कुगागमश्च। भा दीप्तौ—क, लस्य रः। कुकूल इव तुषानलो यथा भान्ति ये ( कृत्तीः ) कृती छेदने—क्तिन्। छेदनशक्तीः ( दूर्शानि ) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२। १०१। दुर्+शॄ हिंसायाम्—ड, दीर्घश्छान्दसः। दुर् दुष्टानि शानि हिंसाकर्माणि ( बिभ्रति ) धारयन्ति ( क्लीवाः ) क्लीबृ अप्रागल्भ्ये—अच्। नपुंसकाः ( इव ) यथा ( प्रनृत्यन्तः ) गात्रविक्षेपणं कुर्वन्तः ( वने ) वन सेवने—अच्। निवासे ( ये ) ( कुर्वते ) कुर्वन्ति ( घोषम् ) नादम् ( तान् ) कृमीन् ( इतः ) अस्मात् स्थानात् ( नाशयामसि ) घातयामः ॥

भावार्थ—मनुष्य रोग जनक छोटे छोटे कीड़ों को सुगन्धित द्रव्यों के धूम आदि से नाश करते रहें ॥ ११ ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः । अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मकंकान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये । सूर्यम् । न । तितिक्षन्ते । आ-तपन्तम् । अमुम् । दिवः ॥ अरायान् । बस्त-वासिनः । दुः-गन्धीन् । लोहित-आस्यान् । मकंकान् । नाशयामसि ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( ये ) जो [ उल्लू आदि ] ( दिवः ) आकाश से ( आतपन्तम् ) चमकते हुये ( अमुम् ) उस ( सूर्यम् ) सूर्य को ( न ) नहीं ( तितिक्षन्ते ) सहते हैं । ( अरायान् ) [ उन ] अलक्ष्मी वालों, ( बस्तवासिनः ) बकरे समान वस्त्र वालों, ( दुर्गन्धीन् ) दुर्गन्ध वालों, ( लोहितास्यान् ) रुधिर मुख वालों, ( मकंकान् ) टेढ़ी गति वालों को ( नाशयामसि ) हम नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य उल्लू, चिमगादड़ आदि जन्तुओं को, जिन से दुर्गन्ध फैलती है, हटावें ॥ १२ ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

ये । आत्मानम् । अति-मात्रम् । अंसे । आ-धाय । बिभ्रति ॥

१२—( ये ) उलूकादयो जन्तवः ( सूर्यम् ) ( न ) निषेधे ( तितिक्षन्ते ) तिज क्षमायां स्वार्थे सन् । सहन्ते ( आतपन्तम् ) सर्वतो दीप्यमानम् ( अमुम् ) प्रसिद्धम् ( दिवः ) आकाशात् ( अरायान् ) अश्रीकान् ( बस्तवासिनः ) बस्त गतिहिंसायाचनेषु—घञ्, वस आच्छादने—घञ्, इनि । छाग इव वस्त्रोपेतान् ( दुर्गन्धीन् ) गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः । पा० ५ । ४ । १३५ । बाहुलकाद् गन्धस्य इकारादेशः । दुष्टगन्धोपेतान् ( लोहितास्यान् ) रुधिरोपेतमुखान् ( मकंकान् ) मकि भूषे गतौ च—अच्, नुमभावः । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । क प्रत्ययः । कुत्सितगतीन् ( नाशयामसि ) ॥

स्त्रीणाम् । श्रोणि-प्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥ १३ ॥

भाषार्थ—( ये ) जो [ कीड़े अपने ] ( आत्मानम् ) आत्मा को ( अंसे ) पीड़ा देने में ( अतिमात्रम् ) अत्यन्त ( आधाय ) जमाकर ( बिभ्रति ) रखते हैं। और ( स्त्रीणाम् ) स्त्रियों के ( श्रोणिप्रतोदिनः ) कटिभाग में व्यथा करने वाले हैं, [ इन्द्र ) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ! [ उन ] [ रक्षांसि ] राक्षसों को ( नाशय ) नष्ट करदे ॥ १३ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग गर्भिणी स्त्रियों के दुःखदायी कीड़ों और रोगों को नाश करें ॥ १३ ॥

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः । आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये । पूर्वे । वध्वः । यन्ति । हस्ते । शृङ्गाणि । बिभ्रतः ॥ आपाके-स्थाः । प्र-हासिनः । स्तम्बे । ये । कुर्वते । ज्योतिः । तान् । इतः । नाशयामसि ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( ये ) जो [ कीड़े ] ( हस्ते ) हाथ में ( शृङ्गाणि ) हिंसा-कर्मों को ( बिभ्रतः ) धारण करते हुये ( वध्वः ) वधू के ( पूर्वे ) सन्मुख (यन्ति) चलते हैं। ( ये ) जो [ कीड़े ] ( आपाकेष्ठाः ) पाकशाला वा कुम्हार के आवां

---

१३—( ये ) क्रमयो रोगा वा ( आत्मानम् ) मनः ( अतिमात्रम् ) यथा तथा। अत्यर्थम् ( अंसे ) अमेः सन्। उ० ५। २१। अम पीडने—सन्। पीडने ( आधाय ) समन्ताद्धृत्वा ( बिभ्रति ) धरन्ति ( स्त्रीणाम् ) गर्भिणीनाम् ( श्रोणिप्रतोदिनः ) वहिश्रिश्रुयुद्रु०। उ० ४। ५१। श्रु गतौ ण्या०—नि + प्रतुद व्यथने-णिनि। कटिभागपीडकान् ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवन् वैद्य ( रक्षांसि ) तान् दुःख-दायिनः ( नाशय ) घातय ॥

१४—( ये ) क्रमयः ( पूर्वे ) अग्रे ( वध्वः ) आङभावः। वध्वाः। स्त्रियाः ( यन्ति ) गच्छन्ति ( हस्ते ) करे ( शृङ्गाणि ) शृणातेर्ह्रस्वश्च। उ० १। १२६। शॄ हिंसायाम्—गन् नुट् च। हिंसाकर्माणि ( बिभ्रतः ) धारयन्तः ( आपाकेष्ठाः )

में बैठने वाले, ( प्रहासिनः ) ठट्ठा मारते हुये [ जैसे ] ( स्तम्बे ) बैठने के स्थान में ( ज्योतिः ) ज्वाला [ जलन, चमक वा पीड़ा ] ( कुर्वते ) करते हैं, ( तान् ) उन [ कीड़ों ] को ( इतः ) यहां से ( नाशयामसि ) हम नष्ट करते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—घरों, पाकशालाओं और आवांओं में कूड़ा कर्कट एकत्र हो कर उष्णता के कारण रोग जनक कीड़े उत्पन्न होते हैं, मनुष्य ऐसे स्थानों को शुद्ध रक्खें ॥ १४ ॥

**येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा । खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः । तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥१५॥**

**येषाम् । पश्चात् । प्र-पदानि । पुरः । पार्ष्णीः । पुरः । मुखा ॥ खल-जाः । शकधूम-जाः । उरुण्डाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भ-मुष्काः । अयाशवः ॥ तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । पते । प्रति-बोधेन । नाशय ॥ १५ ॥**

भाषार्थ—( येषाम् ) जिन [ कीड़ों ] के ( पश्चात् ) पीछे को ( प्रपदानि ) पांव के अगले भाग, ( पुरः ) आगे को ( पार्ष्णीः ) एड़ियां और ( पुरः ) आगे ( मुखा ) मुख हैं। ( च ) और ( ये ) जो [ कीड़े ] ( खलजाः ) खलियान में उत्पन्न होने वाले, ( शकधूमजाः ) गोबर वा लीद के धुयें से उत्पन्न होने वाले,

---

पाकशालायां कुम्भकारस्य मृत्पात्रपाकस्थाने वा स्थिताः ( प्रहासिनः ) अट्टहासं कुर्वन्त इव ( स्तम्बे ) अ० ८ । ६ । ५ । स्थितिस्थाने ( ये ) ( कुर्वते ) उत्पादयन्ति ( ज्योतिः ) अ० १ । ६ । १ । ज्वालाम् । ज्वलनम् । पीडनम् ( तान् ) क्रमीन् ( इतः ) अस्मात् स्थानात् ( नाशयामसि ) ॥

१५—( येषाम् ) क्रमीणाम् ( पश्चात् ) पश्चाद् भागे ( प्रपदानि ) पादाग्रभागाः ( पुरः ) पुरस्तात् ( पार्ष्णीः ) अ० २ । ३३ । ५ । पार्ष्णयः । गुल्फस्याधोभागाः ( पुरः ) ( मुखा ) मुखानि ( खलजाः ) खल चलने—अच् । धान्यमर्दनस्थाने जाताः ( शकधूमजाः ) गवाश्वादिपुरीषोत्पन्नाः ( उरुण्डाः ) उरु बहुनाम—निघ० ३ । १ । खच्च डिद्वा वाच्यः । वा० पा० ३ । २ । ३८ । गमेर्निर्दिष्टोऽपि

( उरुण्डाः ) बहुत इकट्ठे किये गये, ( मट्मटाः ) अत्यन्त पीड़ा देने वाले, ( कुम्भमुष्काः ) घड़े समान अण्डकोश वाले और ( अयाशवः ) रेंगकर खाने वाले हैं। ( ब्रह्मणः पते ) हे वेद रक्षक ! [ वैद्य ] ( प्रतिबोधेन ) अपने प्रत्यक्ष बोध से ( तान् ) उन [ कीड़ों ] को ( अस्याः ) इस [ स्त्री के पास ] से ( नाशय ) नाश करदे ॥ १५ ॥

**भावार्थ**—वैद्य लोग कुरूप, क्लेशदायक कीड़ों को, जो कूड़े कर्कट के कारण उत्पन्न होते हैं, घर से नष्ट करदें ॥ १५ ॥

**पर्य॑स्ताक्षा अप्र॑चङ्कशा अस्त्रै॒णाः स॑न्तु पण्ड॑गाः । अव॑ भेषज पादय॒ य इ॒मां सं॒विवृ॑त्स॒त्यप॑तिः स्वप॒तिं स्त्रियम् ॥ १६ ॥**

पर्य॑स्त-अ॒क्षाः । अप्र॑-चङ्कशाः । अ॒स्त्रै॒णाः । स॒न्तु॒ । पण्ड॑गाः ॥ अव॑ । भे॒ष॒ज॒ । पा॒द॒य॒ । यः । इ॒माम् । स॒म्-विवृ॑त्सति । अप॑तिः । स्व॒प॒तिम् । स्त्रिय॑म् ॥ १६ ॥

**भाषार्थ**—( पण्डगाः ) पण्डाओं [ तत्त्वविवेकियों ] के निन्दक, ( पर्यस्ताक्षाः ) व्यवहार से गिरे हुये पुरुष ( अप्रचङ्कशाः ) न कदापि शासन कर्ता और ( अस्त्रैणाः ) न [ हमारी ] स्त्रियों में मिलनेवाले ( सन्तु ) होवें। ( भेषज ) हे भय निवारक पुरुष ! [ उसको ] ( अव पादय ) गिरा दे, ( यः )

---

बाहुलकात्, उप राशीकरणे—खच्, डित्। बहुराशीकृताः ( ये ) क्रमयः ( च ) ( मट्मटाः ) मट अवसादने-सौत्रधातुः—विच् + मट-अच्। मटश्च ते मटाश्च ते। अत्यन्तपीडकाः ( कुम्भमुष्काः ) घटसमानाण्डकोशयुक्ताः ( अयाशवः ) एरच्। पा० ३। ३। ५६। इण् गतौ-अच्। कृवापा०। उ० १। १। अश भोजने-उण्। अयेन गमनेन। सर्पणेन आशवो भक्षकाः ( तान् ) क्रमीन् ( अस्याः ) स्त्रियाः सकाशात् ( ब्रह्मणस्पते ) बृहतो वेदस्य रक्षक पुरुष (प्रतिबोधेन ) स्वप्रत्यक्ष-ज्ञानेन ( नाशय ) ॥

१६—( पर्यस्ताक्षाः ) प्रच्युतव्यवहाराः ( अप्रचङ्कशाः ) अ + प्र + कश गतिशासनयोः हिंसने च यङ्लुकि, अच्। जपजभदह०। पा० ७। ४। ८६। बाहुलकात् नुक। न कदापि शासकाः ( अस्त्रैणाः ) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ। पा० ४। १। ८७। स्त्री-नञ। न स्त्रीषु युक्ताः ( सन्तु ) ( पण्डगाः ) पण्डा तत्त्वगा

जो (अपतिः ) पति न होकर ( इमाम् ) इस ( स्वपतिम् ) अपने पति वाली ( स्त्रियम् ) स्त्री के पास ( संविवृत्सति ) आना चाहता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा कुबुद्धि, व्यभिचारी, पतिव्रताओं के ठगने वाले पुरुषों को यथावत् दण्ड देवे ॥ १६ ॥

**उ॒द्ध॒र्षिणं॒ मुनि॑केशं ज॒म्भय॑न्तं मरीमृ॒शम् ।**
**उ॒पेष॑न्तमुदु॒म्बलं॑ तु॒ण्डेल॑मु॒त शालु॑डम् ।**
**प॒दा प्र वि॑ध्य॒ पार्ष्ण्या॑ स्था॒लीं गौरि॑व स्पन्द॒ना ॥ १७ ॥**

उत्-ह॒र्षिण॑म् । मुनि॑-केशम् । ज॒म्भय॑न्तम् । म॒री॒मृ॒शम् ॥ उ॒प-एष॑न्तम् । उ॒दु॒म्बल॑म् । तु॒ण्डेल॑म् । उ॒त । शालु॑डम् ॥ प॒दा । प्र । वि॒ध्य॒ । पार्ष्ण्या॑ । स्था॒लीम् । गौः-इ॑व । स्प॒न्द॒ना ॥१७॥

भाषार्थ—[ हे राजन् ! ] ( उद्धर्षिणम् ) अति झूठ बोलने वाले, ( मुनिकेशम् ) मुनियों के क्लेश देनेवाले, ( जम्भयन्तम् ) नाश करनेवाले, ( मरीमृशम् ) वरवस हाथ डालने वाले, ( उपेषन्तम् ) अधिक आने जाने वाले, ( उदुम्बलम् ) मार पीट का सेवन करनेवाले, ( तुण्डेलम् ) तोड़ फोर के करने वाले, ( उत ) और ( शालुडम् ) घमंडी को ( प्र विध्य ) छेद डाल, ( इव ) जैसे

---

बुद्धिर्यस्य स पण्डः । पण्डा—अर्श आद्यच्+गर्ह विनिन्दने—ड । पण्डगर्हकाः तत्त्वविवेकिनिन्दकाः ( भेषज ) हे भयनिवारक पुरुष ( अव पादय ) नीचैर्गमय ( यः ) खलः ( इमाम् ) ( संविवृत्सति ) वर्ततेः सनि । वृद्भ्यः स्यसनोः । पा० १ । ३ । ९२ । इति परस्मैपदम् । संवर्तितुं संगन्तुमिच्छति ( अपतिः ) पतिभिन्नः सन् ( स्वपतिम् ) स्वपतिना युक्ताम् । पतिव्रताम् ( स्त्रियम् ) ॥

१७—( उद्धर्षिणम् ) उत् + हृषु अलीके मिथ्याकरणे—णिनि । अतिमिथ्यावादिनम् ( मुनिकेशम् ) मनेरुच्च । उ० ४ । १२३ । मन ज्ञाने-इन्, अस्य उकारः । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । क्लिशू विबाधने—अन्, ललोपः । मुनीनां मननशीलानां विदुषां क्लेशकम् ( जम्भयन्तम् ) जभि नाशने-शतृ । नाशयन्तम् ( मरीमृशम् ) मृश स्पर्शे यङ्लुकि—अच् । रीगृदुपधस्य च । पा० ७ । ४ । ९० । इति रीक् । अत्यन्तस्पर्शकम् ( उपेषन्तम् ) जॄविशिभ्यां झच् । उ०

( स्पन्दना ) कूदने वाली ( गौः ) गाय ( पदा ) लात से और ( पार्ष्ण्या ) एड़ी से ( स्थालीम् ) हांड़ी को ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा शिष्टों की रक्षा करके दुष्टोंको सर्वथा दण्ड देतारहे ॥१७

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

यः । ते । गर्भम् । प्रति-मृशात् । जातम् । वा । मारयाति । ते ॥ पिङ्गः । तम् । उग्र-धन्वा । कृणोतु । हृदयाविधम् १८

भाषार्थ—[ हे स्त्री ! ] ( यः ) जो ( ते ) तेरे ( गर्भम् ) गर्भ को ( प्रतिमृशात् ) दबा देवे, ( वा ) अथवा ( ते ) तेरे ( जातम् ) उत्पन्न [ बालक ] को ( मारयाति ) मारडाले । ( उग्रधन्वा ) प्रचण्ड धनुष् वाला ( पिङ्गः ) पराक्रमी पुरुष ( तम् ) उसको ( हृदयाविधम् ) हृदय में वरमे [ से छेद ] वाला ( कृणोतु ) करे ॥ १८ ॥

---

१२६ । उप अधिके+इण गतौ—क्विप् । एङि पररूपम् । पा० ६ । १ । ९४ । अधिकमेपन्तं गतिशीलम् ( उदुम्बलम् ) पॄभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । उड संहतौ संहनने, सौत्रो धातुः—कु । संज्ञायां भृतॄवृ० । पा० ३ । २ । ४६ । वृञ् वरणे-खच्, मुम् च । डस्य दः. वस्य वः, रस्य लः । उदुंबरम् । संहननस्वीकर्तारम् ( तुण्डेलम् ) तुडि दारणे हिंसने च—अच्+इल प्रेरणे—क । हिंसाप्रेरकम् ( उत ) अपि च ( शालुडम् ) असेरुरन् । उ० १ । ४२ । शाल कत्थने—उरन्, रस्य डः । आत्मश्लाघिनम् ( पदा ) पादेन ( प्र ) प्रकर्षेण ( विध्य ) ताडय ( पार्ष्ण्या ) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागेन ( स्थालीम् ) स्थाचतिमृजेरालज्० । उ० १ । ११६ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—आलच्, गौरादित्वाद् ङीष् । पात्रम् ( गौः ) ( इव ) यथा ( स्पन्दना ) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ७८ । स्पदि किञ्चिच्चलने—युच्, टाप् । चलनशीला ॥

१८—( यः ) घातकः ( ते ) तव ( गर्भम् ) भ्रूणम् ( प्रतिमृशात् ) प्रतिकूलं मृशेत् । स्पृशेत् । पीडयेत् ( जातम् ) उत्पन्नं बालकम् ( वा ) अथवा ( मारयाति ) मारयेत् ( पिङ्गः ) म० ६ । पराक्रमी राजा ( उग्रधन्वा ) प्रचण्डचापः ( कृणोतु ) करोतु ( हृदयाविधम् ) आङ्+व्यध ताडने—घञर्थे क । हृदये

भावार्थ—राजा भ्रूण हत्यारे और बाल हत्यारे की छाती में वर्मा चला कर नष्ट कर देवे ॥ १८ ॥

**ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।**
**स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥१९॥**

**ये । अम्नः । जातान् । मारयन्ति । सूतिकाः । अनु-शेरते ॥**
**स्त्री-भागान् । पिङ्गः । गन्धर्वान् । वातः । अभ्रम्-इव ।**
**अजतु ॥ १९ ॥**

भाषार्थ—( ये ) जो ( अम्नः ) पीड़ा देने वाले ( जातान् ) उत्पन्न बालकों को ( मारयन्ति ) मार डालते हैं और ( सूतिकाः ) सोहर वाली स्त्रियों को ( अनुशेरते ) अप्रिय करते हैं। ( पिङ्गः ) पराक्रमी पुरुष ( स्त्रीभागान् ) स्त्रियों के सेवन करने वाले, ( गन्धर्वान् ) [ उन ] दुःखदायी पीड़ा देने वालों को (अजतु) हटा देवे, (इव) जैसे (वातः) वायु ( अभ्रम् ) अभ्र [मेघ] को ॥१९॥

भावार्थ—जिन रोगों से बच्चे मर जाते हैं और स्त्रियों को प्रसूति रोग हो जाते हैं, वैद्य उनको सर्वथा हटावे ॥ १९ ॥

**परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।**
**गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)**

---

आविधः काष्ठादिवेधनसाधनं सूच्याकाराग्रमस्त्रं यस्य तम् । आविधेन हृदये छिन्नम् ॥

१९—( ये ) ( अम्नः ) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । अम–पीडने—न प्रत्ययः, जसः सुः । अम्नाः पीडका रोगाः ( जातान् ) उत्पन्नान् बालकान् ( मारयन्ति ) विनाशयन्ति ( सूतिकाः ) षूङ् प्राणिप्रसवे—क्त, कन्, अत इत्वम् । नवप्रसूताः स्त्रीः ( अनुशेरते ) अनुपूर्वः शीङ् अनुशये, अत्यन्तद्वेषे । अत्यन्तं द्विषन्ति ( स्त्री-भागान् ) स्त्रीसेवनान् ( पिङ्गः ) म० ६ । पराक्रमी पुरुषः ( गन्धर्वान् ) अ० २ । १ । २ । गन्ध अर्दने—अच् + अर्व हिंसायाम्–अच् । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । दुःखदायिनश्च ते पीडकाश्च ते तान् दुःखदायिपीडकान् (वातः) वायुः (अभ्रम्) अप् + भृ— क, यद्वा अभ्र गतौ— क । मेघम् ( इव ) ( अजतु ) क्षिपतु ॥

परि-सृष्टम् । धारयतु । यत् । हितम् । मा । अव । पादि । तत् ॥ गर्भम् । ते । उग्रौ । रक्षताम् । भेषजौ । नीवि-भार्यौ ।२०। (१५)

भाषार्थ—[ हे स्त्री ! ] ( परिसृष्टम् ) सब प्रकार युक्त [ कर्म ] [ तुझे ] ( धारयतु ) धारण करे, ( यत् ) जो ( हितम् ) हित है, ( तत् ) वह ( मा अव पादि ) न गिर जावे। ( उग्रौ ) दोनों नित्य सम्बन्ध वाले, ( नीविभार्यौ ) नीति [ नियम ] से धारण करने योग्य, ( भेषजौ ) भय जीतने वाले [ बल और पराक्रम, अर्थात् शारीरिक और आत्मिक सामर्थ्य ] ( ते ) तेरे ( गर्भम् ) गर्भ की ( रक्षताम् ) रक्षा करें ॥ २० ॥

भावार्थ—गर्भिणी समुचित कर्म से शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ा कर गर्भ रक्षा करे ॥ २० ॥

पवीनसात् तङ्गल्वा३ च्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

पवि-नसात् । तङ्गल्वात् । छायकात् । उत । नग्नकात् ॥ प्र-जायै । पत्ये । त्वा । पिङ्गः । परि । पातु । किमीदिनः ।२१।

भाषार्थ—( पवीनसात् ) वज्र समान टेढ़े से, ( तङ्गल्वात् ) गति रोकने वाले से, ( छायकात् ) काटने वाले से ( उत ) और ( नग्नकात् ) नंगे करने वाले ( किमीदिनः ) लुतरे पुरुष से ( प्रजायै ) प्रजा के लिये और ( पत्ये ) पति के

२०—( परिसृष्टम् ) सृज विसर्गे-क्त । सर्वतो युक्तं कर्म ( धारयतु ) दधातु-त्वामिति शेषः ( यत् ) गर्भरूपं वस्तु ( हितम् ) अभिमतम् ( मा अव पादि ) अवपन्नं विस्रस्तं मा भूत् ( तत् ) ( गर्भम् ) ( ते ) तव ( उग्रौ ) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । उच समवाये—रन्प्रत्ययो निपातः । समवेतौ (रक्षताम्) ( भेषजौ ) भयजेतारौ । बलपराक्रमौ ( नीविभार्यौ ) अ० ८ । २ । १६ । वृदृभ्यां विन् । उ० ४ । ५३ । णीञ् प्रापणे -विन्+भृञ् धारणे—ण्यत् । नीव्या नीत्या नियमेन धारणीयौ ॥

२१—( पवीनसात् ) पविर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । सांहितिको दीर्घः । णस कौटिल्ये—अच् । वज्रवत्कुटिलात् ( तङ्गल्वात् ) अन्येष्वपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । तगि गतौ—विच् । कृगृशॄवृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । अल वारणे—

लिये ( त्वा ) तुझको ( पिङ्गः ) पराक्रमी पुरुष ( परि पातु ) सब ओर से बचावे ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा कुकर्मी दुष्टों से स्त्रियों की रक्षा करे ॥ २१ ॥

द्व्यास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।

वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्वि-आस्यात् । चतुः-अक्षात् । पञ्च-पादात् । अनङ्गुरेः ॥

वृन्तात् । अभि । प्र-सर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥२२॥

भाषार्थ—( द्व्यास्यात् ) दुमुहे से, ( चतुरक्षात् ) चार आंखों वाले से, ( पञ्चपादात् ) पांच पैर वाले से, ( अनङ्गुरेः ) विना चेष्टा वाले से। ( वृन्तात् ) फल पत्र आदि के डंठल से ( अभि ) चारों ओर को ( प्रसर्पतः ) रेंगने वाले ( वरीवृतात् ) टेढ़े टेढ़े घूमनेवाले [ कीड़े ] से ( परि ) सब ओर से ( पाहि ) बचा ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखदायी कुरूप दुष्ट कीड़ों से सदा रक्षा करे ॥ २२॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

---

च । गतिनिवारकात् ( छायकात् ) छो छेदने—ण्वुल् । छेदकात् ( उत ) अपि च ( नग्नकात् ) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । नग्न+करोतेर्ड । नग्न-कारकात् ( प्रजायै ) प्रजार्थम् ( पत्ये ) पतिरक्षार्थम् ( त्वा ) स्त्रियम् ( पिङ्गः ) म० ६ । पराक्रमी पुरुषः ( परि ) सर्वतः ( पातु ) रक्षतु ( किमीदिनः ) अ० १ । ७ । १ । पिशुनात् ॥

२२—( द्व्यास्यात् ) मुखद्वययुक्तात् ( चतुरक्षात् ) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० । पा० ५ । ४ । ११३ । अक्षि—षच् । चतुर्नेत्रोपेतात् ( पञ्चपादात् ) पादपञ्चकयुक्तात् ( अनङ्गुरेः ) ऋतन्यञ्जिवन्य० । उ० ४ । २ । अगि गतौ—उलि, लस्य रः । चेष्टारहितात् ( वृन्तात् ) वृ वरणे—क, नुम् च । फलपत्रादिबन्धनात् ( अभि ) अभितः ( प्रसर्पतः ) प्रसर्पकात् ( परि ) ( पाहि ) ( वरीवृतात् ) वृतु वर्तने यङ्लुकि—पचाद्यच् । रीगृदुपधस्य च । पा० ७ । ४ । ९० । रीगागमः । कुटिलं वर्तनशीलात् क्रमेः ॥

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ॥

गर्भान् । खादन्ति । केश-वाः । तान् । इतः । नाशयामसि ॥२३॥

भाषार्थ—( ये ) जो [ कीड़े ] ( आमम् ) कच्चे ( मांसम् ) मांस को ( च ) और ( ये ) जो ( पौरुषेयम् ) पुरुष के ( क्रविः ) मांस को ( अदन्ति ) खाते हैं। ( केशवाः ) और क्लेश पहुंचानेवाले [ रोग वा कीड़े ] ( गर्भान् ) गर्भों को ( खादन्ति ) खाते हैं। ( तान् ) उन सब को ( इतः ) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग रोग जनक कीड़ों और रोगों को गर्भिणी स्त्री से अलग करें ॥ २३ ॥

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।

बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

ये । सूर्यात् । परि-सर्पन्ति । स्नुषा-इव । श्वशुरात् । अधि ॥

बजः । च । तेषाम् । पिङ्गः । च । हृदये । अधि । नि । विध्य-ताम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—( ये ) जो [ उल्लू चोर आदि ] ( सूर्यात् ) सूर्य से ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( परिसर्पन्ति ) खिसक जाते हैं, ( इव ) जैसे ( स्नुषा )

२३—( ये ) क्रमयः ( आमम् ) अपक्वम् ( मांसम् ) आमिषम् (अदन्ति) ( पौरुषेयम् ) अ० ७। १२५। १। पुरुषस्य सम्बन्धि ( च ) ( ये ) ( क्रविः ) अ० ८। ३। १५। मांसम् ( गर्भान् ) उदरस्थबालकान् ( खादन्ति ) भक्षयन्ति। नाशयन्ति ( केशवाः ) क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५। ३३। क्लिशू विबाधने अन्, ललोपः+वह प्रापणे-ड। क्लेशस्य वाहकाः प्रापकाः क्रमयो रोगा वा ( तान् ) सर्वान् ( इतः ) अस्मात् ( नाशयामसि ) ॥

२४—( ये ) चोरादयो हिंस्रजन्तवो वा ( परिसर्पन्ति ) पृथग् गच्छन्ति (स्नुषा) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ०। ३। ६६। ष्णु प्रस्रवणे–सप्रत्ययः, टाप।

पतोहू ( श्वशुरात् ) ससुर से । ( वज्रः ) बली ( च ) और ( पिङ्गः ) पराक्रमी [ पुरुष ] ( च ) भी ( तेषाम् ) उनके ( हृदये ) हृदय में ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( नि ) निरन्तर ( विध्यताम् ) छेद डालें ॥ २४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् बलवान् पुरुष डरपोक चोर आदि और हिंसक जन्तुओं का नाश करें ॥ २४ ॥

**पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।**
**आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥२५॥**

**पिङ्ग । रक्ष । जायमानम् । मा । पुमांसम् । स्त्रियम् । क्रन् ॥**
**आण्ड-अदः । गर्भान् । मा । दभन् । बाधस्व । इतः । किमी-दिनः ॥ २५ ॥**

भाषार्थ—( पिङ्ग ) हे परक्रमी पुरुष ! ( जायमानम् ) उत्पन्न होते हुये [ सन्तान ] को ( रक्ष ) बचा, ( आण्डादः ) अण्डे [ गर्भ ] खाने वाले [ रोग वा कीड़े ] ( पुमांसम् ) पुरुष [ वा ] (स्त्रियम् ) स्त्री [ बालक ] को ( मा क्रन् ) न मारें और ( गर्भान् ) गर्भों को ( मा दभन् ) नष्ट न करें, ( इतः ) यहां से ( किमीदिनः ) लुतरों को ( बाधस्व ) हटा दे ॥ २५ ॥

---

स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसानिनीति वा स्वपत्यं तत्सनोतीति वा—निरु० १२ । ९ । पुत्रवधूः ( इव ) यथा ( श्वशुरात् ) शावसेराप्तौ । उ० १ । ४४ । शु + अशू व्याप्तौ—उरन् । आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः—निरु० ६ । १ । शीघ्रव्याप्तव्यात् पतिजनकात् ( अधि ) अधिकृत्य ( वज्रः ) म० ३ । बली पुरुषः ( च ) ( तेषाम् ) पूर्वोक्तानाम् ( पिङ्गः ) म० ६ । पराक्रमी ( च ) अपि ( हृदये ) ( अधि ) अधिकृत्य ( नि ) निश्चयेन ( विध्यताम् ) ताडयताम् ॥

२५—( पिङ्ग ) म० ६ । हे पराक्रमिन् ( रक्ष ) (जायमानम्) उत्पद्यमानम् ( पुमांसम् ) पुरुषसन्तानम् ( स्त्रियम् ) स्त्रीबालकम् ( मा क्रन् ) कृञ् हिंसायाम्-लुङ् । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । मा हिंसन्तु ( आण्डादः ) अमन्ताड्डः । उ० १ । ११४ । अम गत्यादिषु—ड । डस्य इत्वं न । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे—अण् । अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । अद भक्षणे—विट् अण्डानां गर्भस्थसन्तानानां भक्षकाः ( गर्भान् ) ( मा दभन् ) मा हिंसन्तु ( बाधस्व ) पीडय ( इतः ) ( किमीदिनः ) म० २१ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी बलवान् पुरुष स्त्रियों की रक्षा करें जिससे सन्तान और गर्भ नष्ट न होवें ॥ २५ ॥

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम्।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥२६॥ (१६)

अप्रजाः-त्वम्। मार्त-वत्सम्। आत्। रोदम्। अघम्। आ-वयम् ॥ वृक्षात्-इव। स्रजम्। कृत्वा। अप्रिये। प्रति। मुञ्च। तत् ॥ २६ ॥ (१६)

भाषार्थ—( अप्रजास्त्वम् ) विना सन्तान होना, ( मार्तवत्सम् ) बच्चों का मर जाना ( आत् ) और ( रोदम् ) रोदन करना ( अघम् ) पाप और ( आवयम् ) सब ओर से दुःख के योग को। ( तत् ) उसे ( अप्रिये ) अप्रिय पर ( प्रति मुञ्च ) छोड़ दे ( इव ) जैसे ( वृक्षात् ) वृक्ष से ( स्रजम् ) फूलों की माला को ( कृत्वा ) बनाकर [ छोड़ते हैं ] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि उनके सन्तान उत्पन्न होकर क्लेशों से बचकर दीर्घ आयु प्राप्त करें ॥ २६ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

# अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

## सूक्तम् ७ ॥

१—२८ ॥ ओषधयो देवताः ॥ १, ७, ८, ११, १३, १४, १६—२३, २६—२८,

---

२६—( अप्रजास्त्वम् ) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः। पा० ५। ४। १२२। अप्रजा-असिच्, भावे त्व, छान्दसो दीर्घः। अप्रजस्त्वम्। सन्तानराहित्यम् ( मार्तवत्सम् ) भावे अण्। मृतबालत्वम् ( आत् ) अपि च ( रोदम् ) रुदिर् अश्रुविमोचने—घञ्। रोदनम् ( अघम् ) पापम् ( आवयम् ) आ+व+यम्। वा गतिगन्धनयोः—ड, युजिर् योगे—ड। आ समन्ताद् वस्य गन्धनस्य हिंसनस्य यं योगम् ( वृक्षात् ) द्रुमात् ( इव ) यथा ( स्रजम् ) अ० १। १४। १। पुष्पमालाम् ( कृत्वा ) निर्माय ( अप्रिये ) द्वेष्ये ( प्रति मुञ्च ) प्रत्यक्षं मोचय ( तत् ) पूर्वोक्तं कर्म ॥

अनुष्टुप्; २ भुरिगुपरिष्टाद्बृहती; ३ विराट्पुर उष्णिक्; ४ अतिजगती; ५, ६, १०, २५ पथ्यापङ्क्तिः; ६ आर्ष्यनुष्टुप्; १२ निचृदतिशक्वरी; १५ त्रिष्टुप्; २४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ॥

रोगविनाशोपदेशः—रोग के विनाश का उपदेश ॥



या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ॥१॥

याः। बभ्रवः। याः। च। शुक्राः। रोहिणीः। उत। पृश्नयः॥
असिक्नीः। कृष्णाः। ओषधीः। सर्वाः। अच्छ-आवदामसि ॥१॥

भाषार्थ—(याः) जो (बभ्रवः) पुष्ट करनेवाली [वा भूरे रङ्ग वाली] (च) और (याः) जो (शुक्राः) वीर्यवाली [वा चमकीली] (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली [वा रक्त वर्ण] (उत) और (पृश्नयः) स्पर्श करने वाली [वा अति सूक्ष्म]। (असिक्नीः) निर्बन्ध [वा श्याम वर्ण], (कृष्णाः) आकर्षण करने वाली [वा काले रंग वाली] (ओषधीः) (ओषधियां) हैं, (सर्वाः) उन सब को (अच्छावदामसि) हम अच्छे प्रकार चाहते हैं ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य पौष्टिक उत्तम अन्न आदि ओषधियों का सेवन करके उन्नति करें ॥१॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि। यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२॥

१—(याः) (बभ्रवः) अ० ४।२६।२। पौष्टिकाः। पिङ्गलवर्णाः (शुक्राः) अ० २।११।५। वीर्यवत्यः। कान्तिवत्यः (रोहिणीः) अ० १।२२।३। स्वास्थ्योत्पादयित्र्यः। रक्तवर्णाः (उत) अपि च (पृश्नयः) अ० २।१।१। स्पर्शनशीलाः। स्वल्पाः (असिक्नीः) अ० १।२३।१। अबद्धशक्तयः। श्यामवर्णाः (कृष्णाः) कृषेर्वर्णे। उ० ३।४। कृष आकर्षणे विलेखने च—नक्। आकर्षणशीलाः। नीलवर्णाः (ओषधीः) अ० १।३०।३। ओषधयः। धान्यादयः (अच्छावदामसि) अ० ६।५६।३। सुष्ठु आवदामः। प्रार्थयामहे ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देव-इषितात् । अधि ॥ यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ २ ॥

भाषार्थ—वे [ ओषधियां ] ( इमम् पुरुषम् ) इस पुरुष को ( देवेषितात् ) उन्माद से प्राप्त हुये ( यक्ष्मात् ) राज रोग से ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( त्रायन्ताम् ) रक्षा करें। ( यासाम् वीरुधाम् ) जिन उगने वाली [ अन्न आदि ओषधियों ] का ( द्यौः ) सूर्य ( पिता ) पालने वाला, ( पृथिवी ) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाली और ( समुद्रः ) समुद्र [ जल ] ( मूलम् ) जड़ ( बभूव ) हुआ था ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि अनेक ओषधियों की उत्पत्ति और गुण जान करके उनके सेवन से यथावत् रक्षा करें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आचुका है—अ० ३ । २३ । ६ ॥

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्यं१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । ओषधयः ॥ ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात्-अङ्गात् । अनीनशन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अग्रम् ) पहिले ( दिव्याः ) दिव्य गुण वाले ( आपः ) जल और ( ओषधयः ) ओषधियां [ अन्न आदि पदार्थ ] [ थीं ] ( ताः ) उन्हों ने

२—( त्रायन्ताम् ) रक्षन्तु ( इमम् ) प्रसिद्धम् ( पुरुषम् ) प्राणिनम् ( यक्ष्मात् ) अ० २ । १० । ५ । राजरोगात् ( देवेषितात् ) दिवु मदे—अच्+इष गतौ—क्त । उन्मादात् प्राप्तात् ( अधि ) अधिकृत्य ( द्यौष्पिता ) छन्दसि वाऽम्रेडितयोः । पा० ८ । ३ । ४९ । विसर्जनीयस्य वा सकारः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ३ । २३ । ६ ॥

३—( आपः ) जलानि ( अग्रम् ) सृष्ट्यादौ ( दिव्याः ) उत्तमगुणाः ( ओषधयः ) अन्नादयः ( ताः ) ( ते ) तव ( यक्ष्मम् ) राजरोगम् ( एनस्यम् )

( एनस्यम् ) पाप से उत्पन्न हुये ( यक्ष्मम् ) राजरोग को ( ते ) तेरे ( अङ्गादङ्गात् ) अङ्ग अङ्ग से ( अनीनशन् ) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके प्राणियों की रक्षा की है ॥ ३ ॥

**प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि। अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥**

**प्र-स्तृणतीः । स्तम्बिनीः । एक-शुङ्गाः । प्र-तन्वतीः । ओषधीः । आ । वदामि ॥ अंशु-मतीः । काण्डिनीः । याः । वि-शाखाः । ह्वयामि । ते । वीरुधः । वैश्व-देवीः । उग्राः । पुरुष-जीवनीः ॥ ४ ॥**

भाषार्थ—( प्रस्तृणतीः ) बहुत ढकने वाली [पत्तों वाली], (स्तम्बिनीः) बहुत गुच्छों वाली, ( एकशुङ्गाः ) एक कोंपल वाली, ( प्रतन्वतीः ) बहुत फैली हुई ( ओषधीः ) ओषधियों को ( आ वदामि ) मैं भले प्रकार बुलाता हूं। ( अंशुमतीः ) बहुत कोंप वाली, ( काण्डिनीः ) बड़े गुद्दों वाली, ( विशाखाः ) बहुत टहनियों वाली, ( वैश्वदेवीः ) सब दिव्य गुणवाली, ( उग्राः ) बल वाली

तत्र जातः । पा० ४ । ३ । २५ । यप्रत्ययः । पापोद्भवम् ( अङ्गादङ्गात् ) सर्वावयवात् ( अनीनशन् ) अ० १ । २४ । २ । नाशितवत्यः ॥

४—( प्रस्तृणतीः ) स्तृञ् आच्छादने—शतृ; ङीप्। बह्वाच्छादयतीः। बहुपत्रवती (स्तम्बिनीः) स्थः स्तोऽम्बजवकौ।उ० ४ । ९६ । तिष्ठतेः—अम्बच्, स्तादेशः; स्तम्ब—इनि । बहुगुच्छयुक्ताः ( एकशुङ्गाः ) शम शान्तौ—ग, तस्य नेत्त्वं निपातनादत उत्त्वं च—इति शब्दस्तोममहानिधिः । एकशुङ्गाः । एक—वीदणाग्रयुक्ताः ( प्रतन्वतीः ) बहुविस्तारवतीः ( ओषधीः ) ( आ ) समन्तात् ( वदामि ) ह्वयामि ( अंशुमतीः ) कोमलपल्लवोपेताः ( काण्डिनीः ) स्कन्धवतीः (याः ) ( विशाखाः ) विविधशाखावतीः ( ह्वयामि ) ( ते ) तुभ्यम् ( वीरुधः )

( पुरुषजीवनीः ) मनुष्यों का जीवन करने वालियों को (ते) तेरे लिये (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं, (याः) जो ( वीरुधः ) विविध प्रकार उगने वाली वेल बूटा हैं ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य विविध प्रकार अन्न, वृक्ष और ओषधों को भले प्रकार निरीक्षण करके उपयोग करें ॥ ४ ॥

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् । तेनेममस्माद् यक्ष्माद् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥

यत् । वः । सहः । सहमानाः । वीर्यम् । यत् । च । वः । बलम् ॥ तेन । इमम् । अस्मात् । यक्ष्मात् । पुरुषम् । मुञ्चत । ओषधीः । अथो इति । कृणोमि । भेषजम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( सहमानाः ) हे बल वालियों ! ( यत् ) जो ( वः ) तुम्हारा ( सहः ) पराक्रम और ( वीर्यम् ) वीरत्व ( च ) और ( यत् ) जो ( वः ) तुम्हारा ( बलम् ) बल है। ( ओषधीः ) हे ताप नाशक ओषधियो ! ( तेन ) उस से ( इमम् ) इस ( पुरुषम् ) पुरुष को ( अस्मात् ) इस ( यक्ष्मात् ) राजरोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ, (अथो) अब, मैं ( भेषजम् ) ओषध ( कृणोमि) करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पदार्थों के गुणों का परीक्षण करके विघ्नों को हटावें ॥५॥

---

अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला लतादयः ( वैश्वदेवीः ) सर्वदिव्यगुणयुक्ताः ( उग्राः ) प्रचण्डा बलवतीः ( पुरुषजीवनीः) मनुष्याणां प्राणाधाराः ॥

५—( यत् ) ( वः ) युष्माकम् ( सहः ) पराक्रमः ( सहमानाः ) हे अभिभवशीलाः ( वीर्यम् ) वीरत्वम् ( यत् ) ( च ) ( वः ) ( बलम् ) ( तेन ) (इमम्) समीपस्थम् ( अस्मात् ) ( यक्ष्मात् ) राजरोगात् ( पुरुषम् ) मनुष्यम् (मुञ्चत) मोचयत ( ओषधीः ) अ० १ । २३ । १ । हे ओषधयः । तापनाशयित्र्यः ( अथो ) आरम्भे । इदानीम् ( कृणोमि ) करोमि ( भेषजम् ) औषधम् ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् । अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवे स्मा अरिष्टतातये ६

जीवलाम् । नघ-रिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ॥ अरुन्धतीम् । उत्-नयन्तीम् । पुष्पाम् । मधु-मतीम् । इह । हुवे । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( जीवलाम् ) जीवन देने वाली, ( नघरिषाम् ) न कभी हानि करने वाली, ( जीवन्तीम् ) जीव रखने वाली, ( अरुन्धतीम् ) रोक न डालने वाली, ( उन्नयन्तीम् ) उन्नति करने वाली, ( पुष्पाम् ) बहुत पुष्प वाली, ( मधुमतीम् ) मधुर रस वाली ( ओषधीम् ) ताप नाशक [ अन्न आदि ओषधि ] को ( इह ) यहां ( अस्मै ) इस [ पुरुष ] को ( अरिष्टतातये ) शुभ करने के लिये ( अहम् ) मैं ( हुवे ) बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परीक्षण पूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ८ । २ । ६ ॥

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

इह । आ । यन्तु । प्र-चेतसः । मेदिनीः । वचसः । मम ॥ यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुः-इतात् । अधि ॥७॥

भाषार्थ—( प्रचेतसः मम ) मुझ बड़े ज्ञानी के ( वचसः ) वचन की ( मेदिनीः ) प्रीति करने वाली [ ओषधियां ] ( इह ) यहां ( आ यन्तु ) आवें ।

---

६—( अरुन्धतीम् ) अ० ४ । १२ । १ । अवारयित्रीम् ( उन्नयन्तीम् ) उन्नतिकरीम् ( पुष्पाम् ) अर्श आद्यच्, टाप् । बहुपुष्पवतीम् ( मधुमतीम् ) माधुर्योपेताम् । अन्यत्पूर्ववत्—अ० ८ । २ । ६ ॥

७—( इह ) अत्र ( आ यन्तु ) आगच्छन्तु ( प्रचेतसः ) प्रकृष्टज्ञानयुक्तस्य ( मेदिनीः ) ञिमिदा स्नेहने—अच्, मेद—इनि, ङीप् । स्नेहवत्यः । ओषधयः

( यथा ) जिससे ( इमम् पुरुषम् ) इस पुरुष को ( दुरितात् ) कष्ट से ( अधि ) यथावत् ( पारयामसि ) हम पार लगावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्वदर्शी वैद्य यथावत् वार्तालाप करके युक्त ओषधियों द्वारा क्लेश मिटावें ॥ ७ ॥

**अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।**
**ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥**

अग्नेः । घासः । अपाम् । गर्भः । याः । रोहन्ति । पुनः-नवाः ॥
ध्रुवाः । सहस्र-नाम्नीः । भेषजीः । सन्तु । आ-भृता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( अग्नेः ) अग्नि का ( घासः ) भोजन [ अग्नि बढ़ाने वाली ] और ( अपाम् ) जलों का ( गर्भः ) गर्भ [ जल से युक्त ], ( याः ) जो ( पुनर्णवाः ) वारंवार नवीन [ ओषधियां ] ( रोहन्ति ) उत्पन्न होती हैं। [ वे ] ( ध्रुवाः ) दृढ़ गुण वाली, ( सहस्रनाम्नीः ) सहस्रों नाम वाली ( आभृताः ) यथावत् भरी हुई, ( भेषजीः ) भय जीतने वाली [ ओषधियां ] ( सन्तु ) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि अर्थात् शरीरबल बढ़ाने वाली, रसीली, हरी उत्तम ओषधियों का उपयोग करें ॥ ८ ॥

**अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः ।**
**व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥**

अवका-उल्बाः । उदक-आत्मानः । ओषधयः ॥
वि । ऋषन्तु । दुः-इतम् । तीक्ष्ण-शृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

---

( वचसः ) वचनस्य ( मम ) ( यथा ) ( इमम् ) ( पारयामसि ) तारयामः ( पुरुषम् ) ( दुरितात् ) कष्टात् ( अधि ) अधिकृत्य ॥

८—( अग्नेः ) तापस्य । शरीरबलस्य ( घासः ) अ० ४ । ३८ । ७ । भोजनम् ( अपाम् ) जलानाम् ( गर्भः ) आधारः ( याः ) ओषधयः ( रोहन्ति ) उद्भवन्ति ( पुनर्णवाः ) वारंवारं नवीनोत्पन्नाः ( ध्रुवाः ) दृढगुणाः ( सहस्रनाम्नीः ) बहुनामवत्यः ( भेषजीः ) भयजेत्र्यः । ओषधयः ( सन्तु ) ( आभृताः ) यथावत्पोषिताः ॥

भाषार्थ—( अवकोल्वाः ) पीड़ा को जलाने वाली, ( उदकात्मानः ) जल को जीवन रखने वाली, ( तीक्ष्णशृङ्ग्यः ) [ रोग को ] तीक्ष्ण काट करने वाली ( ओषधयः ) ओषधियां ( दुरितम् ) कष्ट को ( वि ) बाहिर ( ऋषन्तु ) निकलें ॥ ९ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग परीक्षित उत्तम ओषधियों से रोग की चिकित्सा करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः। अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः॥१०॥१७

उत्-मुञ्चन्तीः। वि-वरुणाः। उग्राः। याः। विष-दूषणीः॥ अथो इति। बलास-नाशनीः। कृत्या-दूषणीः। च। याः। ताः। इह। आ। यन्तु। ओषधीः॥ १० ॥ ( १७ )

भाषार्थ—( याः ) जो ( उन्मुञ्चन्तीः ) [ रोग से ] मुक्त करने वाली, ( विवरुणाः ) विशेष करके स्वीकार करने योग्य, ( उग्राः ) बड़े बल वाली, ( विषदूषणीः ) विष हरने वाली। ( अथो ) और भी ( याः ) जो ( बलासनाशनीः ) बल गिराने वाले [ सन्निपात, कफादि ] को नाश करने वाली ( च )

९—( अवकोल्वाः ) अवका-उल्वाः कृञादिभ्यः०। उ० ५।३५। अव हिंसायाम्—वुन्, टाप्। उल्वादयश्च। उ० ४। ९५। उल दाहे, सौ० धा०—वन्, वस्य वः। हिंसादाहिकाः ( उदकात्मानः ) जलप्रधानाः (ओषधयः) (वि) बहिर्भावे (ऋषन्तु) ऋषी गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः। गमयन्तु ( दुरितम् ) कष्टम् (तीक्ष्णशृङ्ग्यः ) तिजेर्दीर्घश्च। उ० ३। १८। तिज निशाने—क्स्नः। शृणातेर्ह्रस्वश्च उ० १। १२६। शॄ हिंसायाम्—गन्, नुट् च। षिद्गौरादिभ्यश्च। पा० ४। १। ४१। ङीप्। रोगस्य तीक्ष्णकर्तनाः॥

१०—( उन्मुञ्चन्तीः ) रोगात् मोचयित्र्यः ( विवरुणाः ) विशेषेण वरणीयाः स्वीकरणीयाः ( उग्राः ) प्रबलाः ( याः ) ओषधयः ( विषदूषणीः ) अ० ६। १००। १। विषनिवारयित्र्यः ( अथो ) अपि च ( बलासनाशनीः ) बलासो बलस्य असिता—अ० ४। ९। ८। श्लेष्मादिरोगनाशयित्र्यः ( कृत्यादूषणीः )

और ( कृत्यादूषणीः ) पीड़ा मिटाने वाली हैं, ( ताः ) वे सब ( ओषधीः ) ओषधियां ( इह ) यहां ( आ यन्तु ) आवें ॥ १० ॥

भावार्थ—वैद्य लोग परीक्षित उत्तम ओषधियों का उपयोग करके रोग शान्ति करें ॥ १० ॥

**अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।**
**त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥**

अप-क्रीताः । सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभि-स्तुताः । त्रा-यन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम् ११

भाषार्थ—(याः) जो ( अपक्रीताः ) यथावत् मोल ली गई, (सहीयसीः) अधिक बल वाली, ( अभिष्टुताः ) उत्तम गुण वाली ( वीरुधः ) ओषधियां हैं। वे ( अस्मिन् ग्रामे ) इस ग्राम में ( गाम् ) गौ, ( अश्वम् ) घोड़े, ( पुरुषम् ) पुरुष और ( पशुम् ) पशु [ भैंस बकरी आदि ] को ( त्रायन्ताम् ) पालें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम वस्तुओं द्वारा उपकारी प्राणियों की यथावत् रक्षा करें ॥ १ ॥

**मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव । मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥**

मधु-मत् । मूलम् । मधु-मत् । अग्रम् । आसाम् । मधु-मत् ।

---

कृत्या हिंसाक्रिया—अ० ४ । ६ । ५ । पीडाखण्डयित्र्यः ( च ) ( याः ) ( ताः ) ( इह ) ( आयन्तु ) आगच्छन्तु ( ओषधीः ) तापनाशकाः पदार्थाः ॥

११—( अपक्रीताः ) यथाविधि मूल्येन प्राप्ताः ( सहीयसीः ) सोढृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः बलवत्तराः ( वीरुधः ) ओषधयः ( याः ) ( अभिष्टुताः ) सर्वतः प्रशंसिताः ( त्रायन्ताम् ) पालयन्तु ( अस्मिन् ) ( ग्रामे ) अ० ४ । ७ । ५ । गृहसमूहे ( गाम् ) ( अश्वम् ) ( पुरुषम् ) ( पशुम् ) महिष्यजादिकम् ॥

मध्यम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ मधु-मत् । पर्णम् । मधु-मत् । पुष्पम् । आसाम् । मधोः । सम्-भक्ताः । अमृतस्य । भक्षः । घृतम् । अन्नम् । दुहताम् । गो-पुरोगवम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( आसाम् वीरुधाम् ) इन ओषधियों का ( मूलम् ) मूल (मधुमत्) मधुर, (अग्रम्) सिरा (मधुमत्) मधुर, ( मध्यम् ) मध्य (मधुमत्) मधुर, ( पर्णम् ) पत्र (मधुमत्) मधुर, (पुष्पम्) फूल (मधुमत्) मधुर ( बभूव) हुआ था, (आसाम्) इनका (अमृतस्य) अमृत का ( भक्षः ) भोजन [ है ], (मधोः) मधुरता में ( संभक्ताः ) पूरी तत्पर वे [ ओषधें ] ( गोपुरोगवम् ) गौ को अग्रगामी [ प्रधान ] रखने वाले ( घृतम् ) घी, और ( अन्नम् ) अन्न को ( दुहताम् ) भरपूर करें ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न, तृण आदि ओषधियों के भागों के गुणों से यथावत् उपकार लेकर गौ आदि जीवों की रक्षा करके घृत अन्न आदि परिपूर्ण करें ॥१२

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः । कियतीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । ओषधीः । ताः । मा । सहस्र-पर्ण्यः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—( यावतीः ) जितनी ( च ) और ( कियतीः ) कितनी [ विविध परिमाण और गुणवाली ] ( इमाः ) ये ( ओषधीः ) ओषधियां ( पृथि-

१२—( मधुमत् ) माधुर्योपेतम् ( मूलम् ) ( अग्रम् ) उपरिभागः ( पर्णम् ) पत्रम् ( पुष्पम् ) पुष्प विकासे—अच् । कुसुमः ( मधोः ) मधुनः । माधुर्यस्य ( संभक्ताः ) भज सेवायाम्—क्त । सम्यक्तत्पराः ( अमृतस्य ) अमरणस्य (भक्षः) भक्ष अदने—घञ् । भोजनम् ( घृतम् ) आज्यम् ( अन्नम् ) ( दुहताम् ) अ० ७ । ८२ । ६ । प्रपूरयन्तु ( गोपुरोगवम् ) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ—डो । गच्छतीति गौः । गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ९२ । पुरोगो-टच् । पुरोगच्छतीति पुरोगवः । गावो धेनवः पुरोगव्यः प्रधाना यस्य तत् । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१३—( यावतीः ) यत्परिमाणयुक्ताः ( कियतीः ) बहुगुणोपेता इत्यर्थः

व्याम् अधि ) पृथिवी के ऊपर [ हैं ]। ( सहस्रपर्ण्यः ) सहस्रों पोषण वाली ( ताः ) वे सब ( मा ) मुझको ( मृत्योः ) मरण [ आलस्य ] से और ( अंहसः ) कष्ट से ( मुञ्चन्तु ) छुड़ावें ॥ १३ ॥

**भावार्थ**—मनुष्य अन्न आदि ओषधियों द्वारा बल बढ़ाकर सुखी होवें १३

**वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।**
**अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥**

**वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्ति-पाः । अमीवाः । सर्वाः । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् १४**

**भाषार्थ**—( वीरुधाम् ) ओषधियों का ( वैयाघ्रः ) व्याघ्र सम्बन्धी [ महाबली ] ( त्रायमाणः ) रक्षा करता हुआ, ( अभिशस्तिपाः ) पीड़ा से रक्षा करने वाला ( मणिः ) मणि [ उत्तम गुण ] ( अमीवाः ) रोगों को और ( सर्वाः ) सब ( रक्षांसि ) राक्षसों [ विघ्नों ] को ( अस्मत् ) हम से ( दूरम् ) दूर ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( अप हन्तु ) हटा देवे ॥ १४ ॥

**भावार्थ**—मनुष्य उत्तम पदार्थों के सेवन से नीरोग और पुष्टाङ्ग होवें १

**सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः । गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥**

---

( इमाः ) ( पृथिव्याम् ) भूमौ ( अधि ) उपरि ( ओषधीः ) ( ताः ) ( मा ) माम् ( सहस्रपर्ण्यः ) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः—न प्रत्ययः । बहुपालनोपेताः ( मृत्योः ) मरणात् । आलस्यात् ( मुञ्चन्तु ) मोचयन्तु ( अंहसः ) आहननात् कष्टात् ॥

१४—( वैयाघ्रः ) व्याघ्र—अण् । व्याघ्रसम्बन्धी । महाबली ( मणिः ) प्रशस्तगुणः ( वीरुधाम् ) ओषधीनाम् ( त्रायमाणः ) पालयन् ( अभिशस्तिपाः ) अ० २ । १३ । ३ । पीडायाः सकाशाद् रक्षकः ( अमीवाः ) अ० ७ । ४२ । १ । रोगान् ( सर्वाः ) शेर्लुक् । सर्वाणि ( रक्षांसि ) राक्षसान् । विघ्नान् ( अप हन्तु ) विनाशयतु ( अधि ) अधिकम् ( दूरम् ) ( अस्मत् ) अस्माकं सकाशात् ॥

सिं॒हस्य॑-इव । स्त॒नथोः॑ । सम् । वि॒ज॒न्ते॒ । अ॒ग्नेः॑-इ॑व । वि॒ज॒न्ते॒ । आ-भृ॑ताभ्यः । गवा॑म् । यक्ष्मः॑ । पुरु॑षाणाम् । वी॒रुत्-भिः॑ । अति॑-नुत्तः । ना॒व्याः॑ । ए॒तु॒ । स्रो॒त्याः॑ ॥ १५ ॥

भावार्थ—वे [ रोग ] ( आभृताभ्यः ) सब प्रकार पुष्ट की हुई [ ओषधियों ] से ( विजन्ते ) डरते हैं, ( इव ) जैसे ( सिंहस्य ) सिंह की ( स्तनथोः ) गर्जन से और ( इव ) जैसे ( अग्नेः ) अग्नि से ( सम् विजन्ते ) [ प्राणी ] डरकर भागते हैं। ( गवाम् ) गौओं का और ( पुरुषाणाम् ) पुरुषों का ( यक्ष्मः ) राज रोग ( वीरुद्भिः ) ओषधियों करके ( नाव्याः ) नौका से उतरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों के (अतिनुत्तः) पार प्रेरणा किया गया (एतु) चला जावे ॥१५॥

भावार्थ—जहां पर मनुष्य अन्न आदि ओषधियों का उचित प्रयोग करते हैं, वहां रोग नदी रूप इन्द्रियों से दूर चले जाते हैं ॥ १५ ॥

मु॒मु॒चा॒ना ओष॑धयो॒ऽग्नेर्वै॑श्वान॒राद॑धि ।
भूमिं॑ संत॒न्वती॑रित॒ यासां॒ राजा॒ वन॒स्पतिः॑ ॥ १६ ॥

मु॒मु॒चा॒नाः । ओष॑धयः । अ॒ग्नेः । वै॒श्वा॒न॒रात् । अधि॑ ॥ भूमि॑म् । स॒म्-त॒न्वतीः॑ । इ॒त॒ । यासा॑म् । राजा॑ । वन॒स्पतिः॑ ॥१६॥

भावार्थ—( मुमुचानाः ) [ रोग से ] छुड़ाने वाली ( ओषधयः ) ओषधियां ( वैश्वानरात् ) सब नरों के हितकारक ( अग्नेः ) अग्नि [ सर्वव्यापक

१५—( सिंहस्य ) अ० ४ । ८ । ७ । हिंस्रजन्तुविशेषस्य ( इव ) यथा ( स्तनथोः ) अ० ५ । ३१ । ६ । गर्जनात् ( सम् विजन्ते ) अ० ५ । २१ । ६ । भयेन चलन्ति प्राणिन इति शेषः ( अग्नेः ) पावकात् ( इव ) ( विजन्ते ) बिभ्यति रोगा इति शेषः ( आभृताभ्यः ) समन्तात् पोषिताभ्यो वीरुद्भ्यः ( गवाम् ) धेनूनाम् ( यक्ष्मः ) राजरोगः ( वीरुद्भिः ) ओषधीभिः ( अतिनुत्तः ) णुद प्रेरणे—क्त । अतीत्य प्रेरितः ( नाव्याः ) अ० ८ । ५ । ६ । नावा पार्याः ( एतु ) गच्छतु ( स्रोत्याः ) अ० १ । १३२ । ३ । नदीः ॥

१६—( मुमुचानाः ) रोगात्मोचयित्र्यः ( ओषधयः ) ( अग्नेः ) अ० ८ । २ । २७ । अग्निं सर्वव्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य ( वैश्वानरात् ) सर्वनरहित-

परमेश्वर ] का आश्रय लेकर ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( भूमिम् ) भूमि को ( संतन्वतीः ) ढांकती हुयी तुम ( इत ) चलो, ( यासाम् ) जिनका ( राजा ) राजा ( वनस्पतिः ) सेवनीय पदार्थों का स्वामी [ सोम रस है ] ॥ १६ ॥

**भावार्थ**—मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से यथावत् उपयोग लेवें ॥ १६ ॥

**या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।**
**ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥१७॥**

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ॥ ताः । नः । पयस्वतीः । शिवाः । ओषधीः । सन्तु । शम् । हृदे ॥१७॥

**भाषार्थ**—(याः) जो (आङ्गिरसीः) ऋषियों करके बतलाई गई (पर्वतेषु) पर्वतों पर ( च ) और ( समेषु ) चौरस ठौरों में ( रोहन्ति ) उगती हैं। ( ताः ) वे ( पयस्वतीः ) दूधवाली, ( शिवाः ) कल्याणी ( ओषधीः ) ओषधियां ( नः ) हमारे ( हृदे ) हृदय के लिये ( शम् ) शान्तिदायक ( सन्तु ) होवें ॥ १७ ॥

**भावार्थ**—वैद्य लोग शास्त्रोक्त ओषधियों को दूर और समीप स्थानों से लाकर संसार में नीरोगता करें ॥ १७ ॥

**याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।**
**अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥१८॥**

याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पश्यामि । चक्षुषा ॥ अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासु । विद्म । च । सम्-भृतम् १८

---

मित्यर्थः (अधि) अधिकृत्य (भूमिम्) (संतन्वतीः) आच्छादयन्त्यः (यासाम्) ओषधीनाम् (राजा) (वनस्पतिः) अ० १। १२। ३। वननीयानां सेवनीयानां पदार्थानां स्वामी। सोमः सोमरसः ॥

१७—( याः ) ( रोहन्ति ) उद्भवन्ति ( आङ्गिरसीः ) अ० ८। ५। ६। ऋषिभिः प्रोक्ताः ( पर्वतेषु ) ( शैलेषु ) ( समेषु ) साधुस्थानेषु ( च ) ( ताः ) ( नः ) अस्माकम् ( पयस्वतीः ) दुग्धवत्यः ( शिवाः ) कल्याण्यः ( ओषधीः ) तापनाशका अन्नादिपदार्थाः ( सन्तु ) ( शम् ) शान्ताः ( हृदे ) हृदयाय ॥

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥
सर्वाः । सम्-अग्राः । ओषधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ॥
यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुः-इतात् । अधि ॥१९॥

**भाषार्थ**—(च ) और ( याः ) जिन ( वीरुधः ) ओषधियों को (अहम् ) मैं (वेद ) जानता हूं, ( च ) और ( याः ) जिनको ( चक्षुषा ) नेत्र से (पश्यामि) देखता हूं। ( च) और ( याः ) जिन (अज्ञाताः ) अनजानी हुई [ ओषधियों को ] ( जानीमः ) हम जानें ( च ) और ( यासु ) जिनमें ( संभृतम् ) पोषण सामर्थ्य ( विद्म ) हम जानें। [वे ] ( सर्वाः समग्राः ) सब की सब ( ओषधीः ) ओषधियां ( मम वचसः ) मेरे वचन का ( बोधन्तु ) बोध करें। ( यथा ) जिससे ( इमम् पुरुषम् ) इस पुरुष को ( दुरितात् ) कष्ट से ( अधि ) यथावत् ( पारयामसि ) हम पार लगावें ॥ १८,१९ ॥

**भावार्थ**—विद्वान् वैद्य शास्त्रोक्त ओषधियों का और अपनी आविष्कृत ओषधियों का प्रचार संसार में नीरोगता बढ़ने के लिये करें ॥ १८, १९ ॥

मन्त्र १८,१९ युग्मक हैं। मन्त्र १९ का उत्तर भाग मन्त्र सात में आ चुका है ॥

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥ ( १८ )
अश्वत्थः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ॥
व्रीहिः । यवः । च । भेषजौ । दिवः । पुत्रौ । अमर्त्यौ २०(१८)

---

१८,१९—(याः ) ( च ) ( अहम् ) ( वेद ) जानामि ( वीरुधः) ओषधीः ( याः ) ( च ) ( पश्यामि ) अवलोकयामि ( चक्षुषा ) नेत्रेण ( अज्ञाताः ) अपरीक्षिताः ( जानीमः ) आविष्कुर्मः ( याः ) ( विद्म ) जानीमः ( च ) ( संभृतम् ) सम्यक् पोषणम् ( सर्वाः समग्राः ) समस्ता एव ( ओषधीः ) ( बोधन्तु ) बोधं कुर्वन्तु ( वचसः ) वचनस्य ( मम ) । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

**भाषार्थ**—[अश्वत्थः] वीरों के ठहरने का स्थान, पीपल का वृक्ष, (दर्भः) दुःख विदारक, कुश वा कांस का विरवा, (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोम लता (अमृतम्) अमृत [बलकर] (हविः) ग्राह्य द्रव्य है। (भेषजौ) भयनिवारक (व्रीहिः) चावल (च) और (यवः) जौ दोनों (दिवः) उन्माद वा पीड़ा के (पुत्रौ) शोधने वाले (अमर्त्यौ) अमर [पुष्टिकारक] हैं॥ २० ॥

**भावार्थ**—मनुष्य पीपल, दर्भ, सोमलता, चावल, जौ आदि पदार्थों के गुणों को यथावत् जानें ॥ २० ॥

**उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।**
**यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥**

**उत् । जिहीध्वे । स्तनयति । अभि-क्रन्दति । ओषधीः ।**
**यदा । वः । पृश्नि-मातरः । पर्जन्यः । रेतसा । अवति ॥२१॥**

**भाषार्थ**—(ओषधीः) हे ओषधियो ! (पृश्निमातरः) हे पृथिवी को माता रखने वालियो ! (उद् जिहीध्वे) तुम खड़ी होजाती हो, (यदा) जब

२०—(अश्वत्थः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वा वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थः पिप्पलवृक्षः (दर्भः) अ० ६ । ४३ । १ । दुःखविदारकः कुशः काशो वा (वीरुधाम्) ओषधीनाम् (सोमः) सोमलता (राजा) (अमृतम्) सर्वगुणोपेतम् (हविः) ग्राह्यं द्रव्यम् (व्रीहिः) अ० ६ । १४० । २ । आशुधान्यम् (यवः) धान्यविशेषः (च) (भेषजौ) भयनिवारकौ (दिवः) दिवु क्रीडामदादिषु यद्वा दिव अर्दे—क्विप् डिधि वा । उन्मादस्य । पीडनस्य (पुत्रौ) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्रः । शोधकौ (अमर्त्यौ) अमरणधर्माणौ । नित्यबलकरौ ॥

२१—(उज्जिहीध्वे) ओ हाङ् गतौ-लट् । उद्गच्छथ (स्तनयति) गर्जति (अभिक्रन्दति) अभितो ध्वनति (ओषधीः) हे ओषधयः (यदा) (वः) युष्मान् (पृश्निमातरः) अ० ४ । २७ । २ । घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । स्पृश संस्पर्शे—नि, धातोः सलोपः । पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा-

( पर्जन्यः ) मेघ ( स्तनयति ) गरजता है और ( अभिक्रन्दति ) कड़कड़ाता है और ( वः ) तुमको ( रेतसा ) जल से ( अवति ) तृप्त करता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि होने से पृथिवी पर सब ओषधियां और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

तस्य । अमृतस्य । इमम् । बलम् । पुरुषम् । पाययामसि ॥ अथो इति । कृणोमि । भेषजम् । यथा । असत् । शत-हायनः ॥२२॥

भाषार्थ—( तस्य ) उस ( अमृतस्य ) अमर [ पुष्टिकारक मेघ ] का ( बलम् ) बल [ सार ] ( इमम् पुरुषम् ) इस पुरुष को ( पाययामसि ) हम पिलाते हैं । ( अथो ) और ( भेषजम् ) चिकित्सा ( कृणोमि ) करता हूं ( यथा ) जिससे वह ( शतहायनः ) सौ वर्ष वाला ( असत् ) होवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ से उत्पन्न हुये पदार्थ अन्न आदि का सेवन करके पूरा जीवन भोगें ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

वराहः । वेद । वीरुधम् । नकुलः । वेद । भेषजीम् ॥ सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे ॥ २३ ॥

---

निरु० २ । १४ । पृश्निः पृथिवी इति रामजसनकोशः । पृथिवी माता उत्पादयित्री यासां तास्तत्सम्बुद्धौ (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ । मेघः (रेतसा ) अ० २ । २८ । ५ । उदकेन—निघ० १ । १२ । ( अवति ) तर्पयति ॥

२२—(तस्य) पूर्वोक्तस्य ( अमृतस्य ) अमरणस्य । पुष्टिकरस्य पर्जन्यस्य ( इमम् ) ( बलम् ) सारम् (पुरुषम् ) प्राणिनम् ( पाययामसि) पानेन पोषयामः ( अथो ) अपिच ( कृणोमि) करोमि (भेषजम् ) चिकित्साम् (यथा) येन प्रकारेण ( असत् ) भवेत् ( शतहायनः ) अ० ८ । २ । ८ । शतसंवत्सरायुर्युक्तः ॥

भाषार्थ—( वराहः ) सूअर ( वीरुधम् ) ओषधि ( वेद ) जानता है, ( नकुलः ) नेवला ( भेषजीम् ) रोग जीतने वाली वस्तु ( वेद ) जानता है। ( सर्पाः ) सर्प और ( गन्धर्वाः ) गन्धर्व [ दुःखदायी पीड़ा देने वाले जीव ] ( याः ) जिनको ( विदुः ) जानते हैं, ( ताः ) उनको ( अस्मै ) इस [ पुरुष ] के लिये ( अवसे ) रक्षा के हित ( हुवे ) मैं बुलाता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जिन ओषधियों को अन्य प्राणी काम में लाते हैं, उनकी यथावत् परीक्षा करके प्रयोग करें ॥ २३ ॥

याः सु॒प॒र्णा आ॑ङ्गिर॒सीर्दि॒व्या या र॒घटो॑ वि॒दुः ।
वयां॑सि हं॒सा या वि॒दुर्याश्च॒ सर्वे॑ पत॒त्रिणः॑ ।
मृ॒गा या वि॒दुरोष॑धीस्ता अ॒स्मा अव॑से हुवे ॥ २४ ॥

याः। सु-पर्णाः। आङ्गिरसीः। दिव्याः। याः। रघटः। विदुः॥ वयांसि। हंसाः। याः। विदुः। याः। च। सर्वे। पतत्रिणः॥ मृगाः। याः। विदुः। ओषधीः। ताः। अस्मै। अवसे। हुवे २४

भाषार्थ—( याः ) जिन ( आङ्गिरसीः ) ऋषियों करके बताई हुई [ ओषधियों ] को ( सुपर्णाः ) गरुड़, गिद्ध आदि, ( याः ) जिन ( दिव्याः ) दिव्य

---

२३—( वराहः ) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। वर+आङ्+हन् वा हृञ् हरणे—ड। वराय अभीष्टाय मुस्तादिलाभाय आहन्ति खनति भूमिम्, वा वरान् आहरतीति। वराहो मेघो भवति वराहारः,...अयमपीतरो वराह एतस्मादेव, वृहति मूलानि, वरंवरं मूलं वृहतीति वा....अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते—निरु० ५। ४। शूकरः ( वेद ) जानाति (वीरुधम्) ओषधिम् (नकुलः) अ० ६। १३६। ५। जन्तुविशेषः (भेषजीम्) भयनिवारिकां चिकित्साम् (सर्पाः) (गन्धर्वाः) अ० ८। ६। १६। दुःखदायिनश्च ते पीडकाश्च ते ( याः ) ओषधीः ( विदुः ) जानन्ति ( ताः ) ( अस्मै ) पुरुषाय ( अवसे ) रक्षणाय ( हुवे ) आह्वयामि ॥

२४—( याः ) ओषधीः ( सुपर्णाः ) अ० २। ३०। ३। सुपतनाः—निरु० ३। १२। गरुडगृध्रादयः ( आङ्गिरसीः ) म० १७। अङ्गिरोभिः प्रोक्ताः ( दिव्याः )

[ ओषधियों ] को ( रघट: ) आकाश में फिरने वाले [ जीव ] ( विदुः ) जानते हैं। ( याः ) जिनको ( वयांसि ) पक्षी ( हंसाः ) हंस, ( च ) और ( याः ) जिन को ( सर्वे ) सब ( पतत्रिणः ) पंख वाले जीव ( विदुः ) जानते हैं। ( याः ओषधीः ) जिन ओषधियों को ( मृगाः ) बनैले पशु ( विदुः ) जानते हैं। ( ताः ) उन सब को ( अस्मै ) इस [ पुरुष ] के लिये ( अवसे ) रक्षा के हित ( हुवे ) मैं बुलाता हूं॥ २४ ॥

भावार्थ—मन्त्र २३ के समान ॥ २४ ॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः । तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥२५

यावतीनाम् । ओषधीनाम् । गावः । प्र-अश्नन्ति । अघ्न्याः । यावतीनाम् । अज-अवयः ॥ तावतीः । तुभ्यम् । ओषधीः । शर्म । यच्छन्तु । आ-भृताः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—( यावतीनाम् ) जितनी ( ओषधीनाम् ) ओषधियों का ( अघ्न्याः ) न मारने योग्य ( गावः ) गौवें और ( यावतीनाम् ) जितनी [ ओषधियों ] का ( अजावयः ) भेड़ बकरी ( प्राश्नन्ति ) चारा करती हैं। ( तावतीः ) उतनी सब ( आभृताः ) यथावत् पुष्ट की हुई ( ओषधीः ) ओषधियां ( तुभ्यम् ) तुझ को ( शर्म ) सुख ( यच्छन्तु ) देवें ॥ २५ ॥

भावार्थ—मन्त्र २३ के समान ॥ २५ ॥

---

श्रेष्ठाः ( याः ) ( रघटः ) रघि गतौ-अच्, नुम् लोपः+अट गतौ क्विप्, शकन्ध्वादिरूपम्। रघे गन्तव्ये आकाशे अटनशीलाः ( विदुः ) जानन्ति ( वयांसि ) अ० २। ३०। ३। पक्षिणः ( हंसाः ) अ० ६। १२। १। पक्षिविशेषाः ( पतत्रिणः) पक्षयुक्ता जन्तवः (मृगाः) अ० २। १५। १। अरण्यपशवः। अन्यत्पूर्ववत् ॥

२५—( यावतीनाम् ) यत्परिमाणानाम् (गावः) धेनवः ( प्राश्नन्ति ) प्राशनं कुर्वन्ति ( अघ्न्याः ) अ० ३। ३०। १। अहन्तव्याः ( अजावयः ) अजाश्च अवयश्च ते। छागमेषादयः ( तावतीः ) तत्परिमाणाः ( शर्म ) सुखम् ( यच्छन्तु ददतु ( आभृताः ) सम्यक् पोषिताः। अन्यद् गतम् ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

यावतीषु । मनुष्याः । भेषजम् । भिषजः । विदुः ॥
तावतीः । विश्व-भेषजीः । आ । भरामि । त्वाम् । अभि ॥२६॥

भाषार्थ—( भिषजः ) वैद्य ( मनुष्याः ) लोग ( यावतीषु ) जितनी [ ओषधियों ] में ( भेषजम् ) चिकित्सा ( विदुः ) जानते हैं ।( तावतीः ) उतनी ( विश्वभेषजीः ) सब रोगों की जीतनेवाली [ ओषधियों ] को ( त्वाम् अभि ) तेरे लिये ( आभरामि ) मैं लाता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग विद्वानों से विद्या प्राप्त करके चिकित्सा करें ॥२६॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

पुष्प-वतीः । प्रसू-मतीः । फलिनीः । अफलाः । उत ॥
संमातरः-इव । दुह्राम् । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ २७ ॥

भाषार्थ—( पुष्पवतीः ) पुष्प रखने वाली, ( प्रसूमतीः ) सुन्दर कोंपल वाली, ( फलिनीः ) फलवाली ( उत ) और ( अफलाः ) फल रहित [ ओषधियां ] ( संमातरः इव ) संमिलित माताओं के समान (अस्मै ) इस [ पुरुष ] को ( अरिष्टतातये ) कुशल करने के लिये ( दुह्राम् ) दूध देवें ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार की ओषधियों से उपकार लेकर स्वस्थ रहें ॥ २७ ॥

---

२६—( यवतीषु ) ( मनुष्याः ) मानवाः ( भेषजम् ) चिकित्साम् ( भिषजः ) अ० २ । ६ । ३ । यद्वा भिषज् चिकित्सायाम्—क्विप् । वैद्याः (विदुः) जानन्ति ( तावतीः ) ( विश्वभेषजीः ) सर्वरोगजेत्रीः ( आभरामि ) आहरामि ( त्वाम् ) ( अभि ) प्रति ॥

२७—( पुष्पवतीः ) प्रशस्तपुष्पयुक्ताः ( प्रसूमतीः ) कोमलपल्लववत्यः ( फलिनीः ) उत्तमफलवत्यः ( उत ) अपि च ( संमातरः इव ) सम्मिलित-जनन्यो यथा ( दुह्राम् ) दुहन्तु । दुग्धं ददतु ( अस्मै ) मनुष्याय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । क्षेमकरणाय ॥

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत । अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥ ( १९ )

उत् । त्वा । अहार्षम् । पञ्च-शलात् । अथो इति । दश-शलात् । उत ॥ अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात् ॥ २८ ॥ ( १९ )

भाषार्थ—( अथो ) अब ( त्वा ) तुझको ( पञ्चशलात् ) पञ्चभूतों में व्यापक ( उत ) और ( दशशलात् ) दश दिशाओं में व्यापक परमेश्वर का आश्रय लेकर ( अथो ) और ( यमस्य ) न्यायकारी राजा के ( पड्वीशात् ) बेड़ी डालने से ( उत ) और ( विश्वस्मात् ) सब ( देवकिल्बिषात् ) परमेश्वर के प्रति अपराध से [ पृथक् ] करके ( उत् अहार्षम् ) मैंने ऊंचा पहुंचाया है ॥२८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वव्यापक परमेश्वर का आश्रय लेकर सब दुराचार को छोड़कर उन्नति करें ॥ २८ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है-अ० ६ । ९६ । २ तथा ७ । ११२ । २॥

सूक्तम् ८ ॥

१—२४ ॥ इन्द्रो मन्त्रोक्ताश्च देवताः ॥ १ निचृदनुष्टुप् ; २, १२, भुरिगनुष्टुप् ; ३ निचृद् बृहती ; ४ भुरिग् बृहती ; ५, ६, १३-१८ अनुष्टुप् ; ६ आस्तारपङ्क्तिः ; ७, २२ अतिजगती ; ८, १९ विराड् बृहती ; १०, ११, २३ उपरिष्टाद् बृहती ; २० बृहती , २१ त्रिष्टुप् ; २४ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

---

२८—( उत् ) ऊर्ध्वम् ( त्वा ) त्वाम् ( अहार्षम् ) प्रापितवानस्मि ( पञ्चशलात् ) शल गतौ—अच् । पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । पञ्चसु भूतेषु व्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य ( अथो ) इदानीम् ( दशशलात् ) पूर्ववत् पञ्चमी । दशदिक्षु व्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य ( उत ) अपि च । अन्यत्पूर्ववत्-अ० ६ । ९६ । २ । तथा ७ । ११२ । २ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्-दरः ॥
यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्र-शः ॥ १ ॥

भाषार्थ—( मन्थिता ) मथन करने वाला, ( शक्रः ) शक्तिमान् ( शूरः ) शूर, ( पुरन्दरः ) गढ़ तोड़ने वाला, (इन्द्रः ) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] (मन्थतु) मथन करे। ( यथा ) जिससे ( अमित्राणाम् ) वैरियों की ( सेनाः ) सेनायें ( सहस्रशः ) सहस्र सहस्र करके ( हनाम ) हम मारें ॥ १ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् राजा के पुरुषार्थ से उसके सेना दल बहुत शत्रुओं का नाश करें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

पूति-रज्जुः । उप-ध्मानी । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ॥ धूमम् । अग्निम् । परा-दृश्य । अमित्राः । हृत्-सु । आ । दधताम् । भयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( उपध्मानी ) सुलगती हुई ( पूतिरज्जुः ) दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाली [ शस्त्रों की ज्वाला ] ( अमूम् सेनाम् ) उस सेना को ( पूतिम् ) दुर्गन्धित ( कृणोतु ) करे। ( अमित्राः ) शत्रु लोग ( धूमम् ) धुयें और

१—( इन्द्रः ) परमैश्वर्यवान् राजा ( मन्थतु ) विलोडयतु ( मन्थिता ) विलोडयिता ( शक्रः ) अ० २ । ५ । ४ । शक्तः ( शूरः ) ( पुरन्दरः ) अरीणां पुरो दारयतीति । पूःसर्वयोर्दारिसहोः । पा० ३ । २ । ४१ । पुर्+दॄ विदारणे-णिच्-खच् । वाचंयमपुरन्दरौ च । पा० ६ । ३ । ६९ । पुर् शब्दस्य अदन्तत्वम् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । खचि ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९४ । इति दारिशब्दस्य ह्रस्वः । शत्रूणां दुर्गविनाशकः ( यथा ) ( हनाम ) मारयाम् ( सेनाः ) ( अमित्राणाम् ) शत्रूणाम् ( सहस्रशः ) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् । पा० ५ । ४ । ४३ । इति शस् । सहस्रं सहस्रम् ॥

२—( पूतिरज्जुः ) सृजेरसुम् च । उ० १ । १५ । सृज विसर्जने-उ, धातोरसुमागमः, आदिसकारलोपश्च, ऋकारस्य यणादेशः, आगमसकारस्य जश्त्वं च । आद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जुः-निरु० २ । १ । दुर्गन्धस्य स्रष्ट्री ।

( अग्निम् ) अग्नि को ( पराहश्य ) अत्यन्त देखकर ( हृत्सु ) हृदय में ( भयम् ) भय ( आ दधताम् ) धारण कर लेवें ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनापति के आग्नेय अस्त्रों की मार से शत्रु लोग श्वास घुट कर भाग जावें ॥ २ ॥

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥ ३ ॥

अमून् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून् । खदिर । अजिरम् ॥ ताजद्भङ्गः-इव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( अश्वत्थ ) हे बलवानों में ठहरने वाले ! [ अश्वत्थामा ] ( अमून् ) उन को ( निः शृणीहि ) कुचल डाल, ( खदिर ) हे दृढ़ स्वभाव वाले [ सेनापति ! ] ( अमून् ) उनको ( अजिरम् ) शीघ्र ( खाद ) खा ले। वे लोग ( ताजद्भङ्गः इव ) झटपट टूटे हुये सन के समान ( भज्यन्ताम् ) टूट जावें, ( वधकः ) मारू सेनापति (वधैः) मारू हथियारों से ( एनान् ) इनको ( हन्तु ) मारे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वीरसेनापति दृढ़ स्वभाव होकर शत्रुओं का शीघ्र नाश करे ॥३॥

---

शस्त्रज्वाला ( उपध्मानी ) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः-ल्युट्, ङीप्। प्रज्वलन्ती ( पूतिम् ) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। पूयी विशरणे दुर्गन्धे च-तिप्रत्ययः, यद्वा क्तिच् प्रत्ययान्तः, यलोपः। दुर्गन्धवतीम् ( सेनाम् ) ( कृणोतु ) करोतु ( अमूम् ) पुरोदृश्यमानाम् ( धूमम् ) शस्त्रधूमम् ( अग्निम् ) ( पराहश्य ) भृशं दृष्ट्वा ( अमित्राः ) पीडकाः ( हृत्सु ) हृदयेषु ( आ दधताम् ) समन्तात् धरन्तु ( भयम् ) दरम् ॥

३—( अमून् ) शत्रून् ( अश्वत्थ ) अ० ३। ६। १। अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क। हे अश्वेषु वीरेषु स्थितिस्वभाव। अश्वत्थामन् ( निः ) निरन्तरम् (शृणीहि) नाशय ( अमून् ) ( खदिर ) अ० ३। ६। १। खद स्थैर्यहिंसयोः-किरच्। हे स्थिरस्वभाव सेनापते ( अजिरम् ) अ० ३। ४। ३। क्षिप्रम्-निघ० २। १५। ( ताजद्भङ्गः इव ) ताजत् क्षिप्रनाम-निघ० २। १५+भञ्जो आमर्दने-घञ्, कुत्वं च। क्षिप्रभङ्गो भङ्गः शणो यथा ( भज्यन्ताम् ) भिद्यन्ताम् ( हन्तु ) मारयतु ( एनान् ) शत्रून् ( वधकः ) हनो वध च। उ० २। ३६। हन्तेः—क्वुन्। हननकर्ता ( वधैः ) हननायुधैः ॥

पुरुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

परुषान् । अमून् । परुष-आह्वः । कृणोतु । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ॥ क्षिप्रम् । शरः-इव । भज्यन्ताम् । बृहत्-जालेन । सम्-दिताः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( परुषाह्वः ) कठोरों को ललकारने वाला [सेनापति] ( अमून् ) उन [ अपने सैनिकों ] को ( परुषान् ) कठोर स्वभाव वाला ( कृणोतु ) बनावे, ( वधकः ) मारू [ सेनापति ] ( वधैः ) मारू शस्त्रों से ( एनान् ) इन [ शत्रुओं ] को ( हन्तु ) मारे । ( बृहज्जालेन ) बड़े जाल से ( संदिताः ) बंधे हुये वे लोग ( शर इव ) सरकंडे के समान ( क्षिप्रम् ) शीघ्र ( भज्यन्ताम् ) टूट जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को उत्साह देकर शत्रुओं को पाश में बांधकर नष्ट करे ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो मही: ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् । जालम् । आसीत् । जाल-दण्डाः । दिशः । महीः ॥ तेन । अभि-धाय । दस्यूनाम् । शक्रः । सेनाम् । अप । अवपत् ५

भाषार्थ—( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष ( जालम् ) जाल ( आसीत् ) था, ( जालदण्डाः ) जाल के दण्डे ( महीः ) बड़ी ( दिशः ) दिशायें [ थीं ]। ( तेन )

---

४—( परुषान् ) पॄनहिकलिभ्य उपच् । उ० ४ । ७५ । पॄ पालनपूरणयोः—उपच् । कठोरस्वभावान् ( अमून् ) स्वसैनिकान् ( परुषाह्वः ) परुष+आङ्+ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च—क । कठोराणां स्पर्धकः सेनापतिः ( कृणोतु ) ( हन्तु ) ( वधकः ) म० ३ । मारकः ( वधैः ) हननायुधैः ( क्षिप्रम् ) शीघ्रम् ( शरः ) तृणभेदः ( इव ) यथा ( भज्यन्ताम् ) भिद्यन्ताम् ( बृहज्जालेन ) महापाशेन ( संदिताः ) सम् पूर्वो दो बन्धने—क्त । बद्धाः ॥

५—( अन्तरिक्षम् ) अवकाशः ( जालम् ) जल संवरणे—घञ् । पाशः । विस्तारः ( आसीत् ) ( जालदण्डाः ) ( दिशः ) प्राच्यादयः ( महीः ) महत्यः

उस [ जाल ] से ( अभिधाय ) घेरकर ( शक्रः ) शक्तिमान् [ सेनापति ] ने ( दस्यूनाम् ) डाकुओं की ( सेनाम् ) सेना को ( अप अवपत् ) इतर वितर कर दिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो सेनापति अवकाश और सब दिशाओं का ध्यान रखकर व्यूह रचना करता है, वह शत्रुओं पर विजय पाता है ॥ ५ ॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः । तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

बृहत् । हि । जालम् । बृहतः । शक्रस्य । वाजिनी-वतः ॥ तेन । शत्रून् । अभि । सर्वान् । नि । उब्ज । यथा । न । मुच्यातै । कतमः । चन । एषाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( हि ) क्योंकि (बृहतः) बड़े ( वाजिनीवतः ) बलवती क्रियाओं वाले ( शक्रस्य ) शक्तिमान् [ सेनापति ] का ( जालम् ) जाल [ फैलाव ] ( बृहत् ) बड़ा [ है ] । ( तेन ) उस [ जाल ] से ( सर्वान् ) सब ( शत्रून् अभि ) शत्रुओं पर ( नि उब्ज ) झुक पड़, ( यथा ) जिससे ( एषाम् ) इनमें से ( कतमः चन ) कोई भी ( न मुच्यातै ) न छूटे ॥ ६ ॥

भावार्थ—बलवान् सेनापति बहुत सी सेना का फैलाव करके शत्रुओं का नाश करे ॥ ६ ॥

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्य-

( तेन ) जालेन ( अभिधाय ) आच्छाद्य ( दस्यूनाम् ) अ० २ । १४ । ५ । चोरादीनाम् ( शक्रः ) शक्तः सेनापतिः ( सेनाम् ) ( अप अवपत् ) इतस्ततः प्रक्षिप्तवान् ॥

६—( बृहत् ) महत् ( हि ) यस्मात् कारणात् ( जालम् ) म० ५ । विस्तारः ( बृहतः ) महतः ( शक्रस्य ) शक्तिमतः सेनापतेः ( वाजिनीवतः ) वाजो बलम्—निघ० २ । ९ । बलवतीक्रियायुक्तस्य ( तेन ) जालेन ( शत्रून् ) ( अभि ) प्रति ( सर्वान् ) ( न्युब्ज ) उब्ज आर्जवे । निगृह्य धाव ( यथा ) येन प्रकारेण ( न मुच्यातै ) अ० ४ । १६ । ४ । न मुक्तो भवेत् ( कतमश्चन ) कोऽपि (एषाम्) शत्रूणां मध्ये ॥

स्य । तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

बृहत् । ते । जालम् । बृहतः । इन्द्र । शूर । सहस्र-अर्घस्य । शत-वीर्यस्य ॥ तेन । शतम् । सहस्रम् । अयुतम् । नि-अर्बुदम् । जघान । शक्रः । दस्यूनाम् । अभि-धाय । सेनया ॥७॥

भाषार्थ—( इन्द्र ) हे इन्द्र ! [ महाप्रतापी ! ] ( शूर ) हे शूर ! ( बृहतः ) बड़े, ( सहस्रार्घस्य ) सहस्रों से पूजा योग्य, ( शतवीर्यस्य ) सैकड़ों वीरत्व वाले ( ते ) तेरे का ( बृहत् ) बड़ा ( जालम् ) जाल [ फैलाव ] है । ( तेन ) उस [ जाल ] से ( शक्रः ) शक्तिमान् [ सेनापति ] ने ( सेनया ) [ अपनी ] सेना से ( शतम् ) सौ, ( सहस्रम् ) सहस्र, ( अयुतम् ) दश सहस्र, ( न्यर्बुदम् अनेक दश कोटि ( दस्यूनाम् ) डाकुओं को ( अभिधाय ) घेर कर ( जघान ) मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से शूरवीर पुरुष शत्रुओं को मारकर प्रजापालन करते आये हैं, उसी प्रकार पराक्रमी लोग रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥

अयम् । लोकः । जालम् । आसीत् । शक्रस्य । महतः ।

---

७—( बृहत् ) ( ते ) तव ( जालम् ) म० ५ । विस्तारः ( बृहतः ) ( इन्द्र ) परमैश्वर्यवन् सेनापते ( शूर ) पराक्रमिन् ( सहस्रार्घस्य ) अर्ह पूजायाम्—घञ् कुत्वम् । सहस्रैः पूजितस्य ( शतवीर्यस्य ) बहुवीर्योपेतस्य ( तेन ) जालेन ( शतम् ) ( सहस्रम् ) ( अयुतम् ) दशसहस्रम् ( न्यर्बुदम् ) अर्व गतौ हिंसायम् च-उदच् प्रत्ययः, इति रामजसनकोशः । अर्बुदो मेघो भवत्यरणमम्बु तदर्दोऽम्बुदोऽम्बुमद्भातीति वाम्बुमद्भवतीति वा, स यथा महान् बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्—निरु० ३ । १० । बहुदशकोटिम् ( जघान ) ममार ( शक्रः ) शक्तिमान् ( दस्यूनाम् ) म० ५ । चोरादीनाम् ( अभिधाय ) आच्छाद्य ( सेनया ) स्वसेनया ॥

महान् ॥ तेन॑ । अ॒हम् । इ॒न्द्र॒ऽजा॒लेन॑ । अ॒मून् । तम॑सा । अ॒भि । द॒धा॒मि॒ । सर्वा॑न् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( अयम् ) यह ( महान् ) बड़ा ( लोकः ) लोक ( महतः ) बड़े ( शक्रस्य ) शक्तिमान् [ सेनापति ] का ( जालम् ) जाल ( आसीत् ) था। ( तेन ) उस ( इन्द्रजालेन ) इन्द्रजाल [ बड़े शस्त्र ] से ( अहम् ) मैं ( अमून् ) उन ( सर्वान् ) सब को ( तमसा ) अन्धकार से (अभि दधामि) घेरे लेता हूं ।८।

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनाध्यक्ष के सहाय से अन्य सेनापति शत्रुओं को इन्द्रजाल महास्त्र आदि महाशस्त्रों से अन्धकार में घेरकर मारें ॥ ८ ॥

से॒दिरु॒ग्रा व्यृ॑द्धि॒रार्ति॑श्चानपवाच॒ना ।
श्र॒मस्त॒न्द्रीश्च॒ मोह॑श्च॒ तैर॒मून॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न् ॥ ९ ॥

से॒दिः । उ॒ग्रा । विऽऋ॑द्धिः । आर्तिः॑ । च॒ । अ॒न॒प॒ऽवा॒च॒ना ॥ श्र॒मः । त॒न्द्रीः । च॒ । मोहः॑ । च॒ । तैः । अ॒मून् । अ॒भि । द॒धा॒मि॒ । सर्वा॑न् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—( सेदिः ) महामारी आदि क्लेश, ( उग्रा ) भारी ( व्यृद्धिः ) निर्धनता ( च ) और ( अनपवाचना ) अकथनीय ( आर्तिः ) पीड़ा। ( श्रमः ) परिश्रम, ( च ) और ( तन्द्रीः ) आलस्य ( च ) और ( मोहः ) मोह [ घबड़ाहट ] [ जो हैं ], ( तैः ) उन सब से ( अमून् ) उन ( सर्वान् ) सबों को ( अभि दधामि ) मैं घेरे लेता हूं ॥ ९ ॥

८—( अयम् ) प्रसिद्धः ( लोकः ) संसारः ( जालम् ) पाशः ( आसीत् ) ( शक्रस्य ) इन्द्रस्य ( महतः ) ( महान् ) ( तेन ) ( अहम् ) सेनापतिः ( इन्द्रजालेन ) इन्द्रपाशेन महास्त्रेण ( अमून् ) शत्रून् ( तमसा ) अन्धकारेण ( अभि दधामि ) आच्छादयामि ( सर्वान् ) समस्तान् ॥

९—( सेदिः ) अ० २ । १४ । ३ । निर्ऋतिः । महाविपादः ( उग्रा ) प्रचण्डा ( व्यृद्धिः ) वि + ऋधु वृद्धौ—क्तिन् । अलक्ष्मीः ( आर्तिः ) अ० ३ । ३१ । २ । पीडा ( च ) ( अनपवाचना ) वच परिभाषणे—णिच् स्वार्थे—युच् । अकथनीया ( श्रमः ) परिश्रमः ( तन्द्रीः ) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । तद्रि अवसादे सौ० धा०—ईप्रत्ययः । आलस्यम् ( च ) ( मोहः ) मूर्छा ( च ) ( तैः ) पूर्वोक्तैः । अन्यत्पूर्ववत्—म० ८ ॥

भावार्थ—दुष्ट उपद्रवी लोगों को बड़ी बड़ी विपत्तियों में फंसाना योग्य है ॥ ६ ॥

मृत्यवे॒ऽमून् प्र य॑च्छामि मृत्युपा॒शैर॒मी सि॒ताः । मृ॒त्योर्ये अ॑घ॒ला दू॒तास्तेभ्य॑ एना॒न् प्रति॑ नयामि ब॒द्ध्वा ॥१०॥ (२०)

मृ॒त्यवे॑ । अ॒मून् । प्र । य॒च्छा॒मि॒ । मृ॒त्यु॒-पा॒शैः । अ॒मी इति॑ । सि॒ताः ॥ मृ॒त्योः । ये । अ॒घ॒लाः । दू॒ताः । तेभ्यः॑ । ए॒ना॒न् । प्रति॑ । न॒या॒मि॒ । ब॒द्ध्वा ॥ १० ॥ ( २० )

भाषार्थ—( अमून् ) उन्हें ( मृत्यवे ) मृत्यु को ( प्र यच्छामि ) मैं सौंपता हूं, ( मृत्युपाशैः ) मृत्यु के पाशों से ( अमी ) वे लोग ( सिताः ) बंधे हुये हैं। ( मृत्योः ) मृत्यु के ( ये ) जो ( अघलाः ) दुःखदायी ( दूताः ) दूत हैं, ( तेभ्यः ) उनके पास ( एनान् ) इन्हें ( बद्ध्वा ) बांध कर ( प्रति नयामि ) मैं लिये जाता हूं ।१०

भावार्थ—राजा दुःखदायी दुष्टों को घातकों द्वारा वध करावे ॥ १० ॥

नय॑ताम॒मून् मृ॑त्युदूता यम॑दूता॒ अपो॑म्भत ।
प॒रःस॒ह॒स्रा ह॑न्यन्तां तृणे॒ढ्वे॑नान् मत्यं॑ भ॒वस्य॑ ॥ ११ ॥

नय॑त । अ॒मून् । मृ॒त्यु॒-दू॒ताः । य॒म॒-दू॒ताः । अप॑ उ॒म्भ॒त॒ ॥ प॒रः-स॒ह॒स्राः । ह॒न्य॒न्ता॒म् । तृ॒णे॒ढु॑ । ए॒ना॒न् । म॒त्य॑म् । भ॒वस्य॑ ११

भाषार्थ—( मृत्युदूताः ) हे मृत्यु के दूतो ! [ घातको ! ] ( अमून् ) उनको ( नयत ) ले जाओ, ( यमदूताः ) हे यम के दूतो ! [वधक पुरुषो !] (अप

१०—( मृत्यवे ) मरणाय ( अमून् ) दुःखदायिनः ( प्र यच्छामि ) ददामि ( मृत्युपाशैः ) मरणसाधनैः ( अमी ) ते ( सिताः ) बद्धाः ( मृत्योः ) मरणस्य ( ये ) ( अघलाः ) अघ+ला दाने-क। दुःखदायिनः ( दूताः ) अ० १।७।६। उपतापकः। दूतसदृशा घातकजनाः ( तेभ्यः ) ( एनान् ) ( प्रति नयामि ) प्रतिकूलं प्रापयामि ( बद्ध्वा ) प्रसित्य ॥

११—( नयत ) गमयत ( अमून् ) दुष्टान् ( मृत्युदूताः ) हे घातकजनाः ( यमदूताः ) वधकाः ( अप उम्भत ) उम्भ पूरणे। बलेन बध्नीत-( परःसहस्राः )

उम्भत ) कस कर बांध लो। ( परःसहस्राः ) सहस्रों से अधिक [ वे लोग ] ( हन्यन्ताम् ) मारे जावें, ( भवस्य ) सुखदायक [ राजा ] की ( मत्यम् ) मुट्ठी [ घूंसा ] ( एनान् ) इनको ( तृणेढु ) चूर चूर कर डाले ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों को अनेक प्रकार कष्ट देकर घातकों और वधकों द्वारा नष्ट करादे ॥ ११ ॥

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्यं यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

साध्याः । एकम् । जाल-दण्डम् । उत्-यत्यं । यन्ति । ओजसा ॥
रुद्राः । एकम् । वसवः । एकम् । आदित्यैः । एकः । उत्-यतः १२

भाषार्थ—( साध्याः ) साध्य लोग [परोपकार साधक जन] ( एकम् ) एक ( जालदण्डम् ) जाल के दण्डे को, ( रुद्राः ) रुद्र [ शत्रुनाशक लोग ] ( एकम् ) एक को, ( वसवः ) वसु लोग [ उत्तम पुरुष ] ( एकम् ) एक को ( ओजसा ) बल से ( उद्यत्य ) उठाकर ( यन्ति ) चलते हैं, ( एकः ) एक ( आदित्यैः ) पूर्णविद्या वालों करके ( उद्यतः ) उठाया गया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस राजा के अधिकार में उत्तम उत्तम अधिकारी होते हैं, वहां विजय होती है ॥ १२ ॥

विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।

---

सहस्राधिकाः ( हन्यन्ताम् ) वध्यन्ताम् ( तृणेढु ) तृह हिंसायाम्—लोट् । चूर्णीकरोतु । पिनष्टु (एनान्) दुष्टान् (मत्यम्) मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु । पा० ४ । ४ । ९७ । मतं ज्ञानं तस्य करणमिति । मुष्टिः—इति शब्दकल्पद्रुमः ( भवस्य ) भू सत्तायां प्राप्तौ च—अप् । भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः । सुखोत्पादकस्य ॥

१२—(साध्याः) अ० ७ । ५ । १ । साधवः । परोपकारसाधकाः (एकम्) (जालदण्डम्) प्रबन्धरूपं जालसाधनम् ( उद्यत्य ) उत्+यम यमने—ल्यप् । उद्युज्य ( यन्ति ) गच्छन्ति ( ओजसा ) बलेन ( रुद्राः ) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे—क्विप्, तुक्+रु वधे—ड । शत्रुनाशकाः (एकम्) (वसवः) अ० १ । ९ । १। प्रशस्ता जनाः ( एकम् ) ( आदित्यैः ) अ० १ । ९ । १ । आदीप्यमानैः । पूर्णविद्यैः ( एकः ) जालदण्डः ( उद्यतः ) यम—क्त । ऊर्ध्वीकृतः ॥

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १२ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्टात् । उब्जन्तः । यन्तु । ओजसा ॥

मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( विश्वे ) सब ( देवाः ) विजय चाहने वाले पुरुष ( उपरिष्टात् ) ऊपर से ( ओजसा ) बल के साथ ( उब्जन्तः ) सीधे होकर ( यन्तु ) चलें। ( अङ्गिरसः ) बड़े ज्ञानी लोग (मध्येन) मध्य से (महीम्) बड़ी (सेनाम्) सेना को ( घ्नन्तः ) मारते हुये ( यन्तु ) चलें ॥ १२ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष व्यूह रचना में उत्तम उत्तम सेनापतियों को उचित स्थानों में नियत करके शत्रुओं को नाश करे ॥ १२ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।

द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ॥ द्वि-पात् ।

चतुः-पात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( वनस्पतीन् ) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वाले पुरुषों, ( वानस्पत्यान् ) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वालों के सम्बन्धी पदार्थों, (ओषधीः ) अन्न आदि ओषधियों ( उत ) और (वीरुधः) जड़ी बूटियों। ( द्विपात् ) दोपाये और ( चतुष्पात् ) चौपाये को (इष्णामि) मैं प्राप्त करता हूं (यथा) जिस

१२—( विश्वे ) सर्वे ( देवाः ) विजिगीषवः ( उपरिष्टात् ) उपरिस्थानात् ( उब्जन्तः ) उब्ज आर्जवे—शतृ। ऋजवः सन्तः ( यन्तु ) गच्छन्तु ( ओजसा) ( मध्येन ) मध्यदेशेन ( घ्नन्तः ) मारयन्तः ( सेनाम् ) ( अङ्गिरसः ) अ० २। १२। ४। महाज्ञानिनः ( महीम् ) विशालाम् ॥

१४—( वनस्पतीन् ) अ० ३। ६। ६ [ वनस्पते ] वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति दयानन्द भाष्ये, यजु० २७। २१। सेवनीयशास्त्राणां पालकान् ( वानस्पत्यान् ) अ० ३। ६। ६। सेवनीयशास्त्राणां पालकानां सम्बन्धिनः पदार्थान् ( ओषधीः ) अन्नादीन् ( उत ) अपिच ( वीरुधः ) लतादीन् (द्विपात्) विभक्तेः लुः। द्विपादम्। पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् (चतुष्पात्) गवाश्वहस्त्या-

से वे सब (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हनन्) मारें ॥ १४ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष राजा सब उत्तम पुरुषों और उत्तम पदार्थों को साथ लेकर शत्रुओं को मारे ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

गन्धर्व-अप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्य-जनान् । पितॄन् ॥
दृष्टान् । अदृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् १५

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों [पृथिवी के धारण करने वालों] और अप्सरों [आकाश में चलने वालों], (सर्पान्) सर्पों [के समान तीव्र दृष्टि वालों], (देवान्) विजय चाहने वालों, (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा (पितॄन्) पितरों [महाविद्वानों]। (दृष्टान्) देखे हुये और (अदृष्टान्) अनदेखे पदार्थों को (इष्णामि) मैं प्राप्त करता हूं, (यथा) जिससे वे सब (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हनन्) मारें ॥ १५ ॥

भावार्थ—राजा विवेकी, दूरदर्शी, शूर, सत्यवादी पुरुषों और गोचर और अगोचर पदार्थों को एकत्र करके शत्रु नाश करे ॥ १५ ॥

इमे उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उप्ताः । मृत्यु-पाशाः । यान् । आ-क्रम्य । न । मुच्यसे ॥
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्र-शः ॥१६॥

---

दिकम् (इष्णामि) इष गतौ । गच्छामि । प्राप्नोमि (यथा) येन प्रकारेण (सेनाम्) (अमूम्) दृश्यमानाम् (हनन्) लेटि रूपम् । ते घ्नन्तु ॥

१५—(गन्धर्वाप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । पृथिवीधारकान् आकाशे गमनशीलांश्च विवेकिनः (सर्पान्) सर्पवत्तीव्रदृष्टीन् (देवान्) विजिगीषून् (पुण्यजनान्) शुद्धाचारिणः (पितॄन्) महाविदुषः (दृष्टान्) गोचरान् (अदृष्टान्) अगोचरान् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

**भाषार्थ**—( इमे ) ये ( मृत्युपाशाः ) मृत्यु के जाल ( उप्ताः ) फैले हैं, ( यान् ) जिनमें ( आक्रम्य ) पांव धरकर [ हे शत्रु ! ] ( न मुच्यसे ) तू नहीं छूटता है। ( इदम् ) यह ( कूटम् ) फन्दा ( अमुष्याः सेनायाः ) उस सेना का ( सहस्रशः ) सहस्रों प्रकार से ( हन्तु ) हनन् करे ॥ १६ ॥

**भावार्थ**—राजा शत्रु लोगों को दृढ़ बन्धनों में रखकर विनष्ट करे ॥१६॥

**घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।**
**भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनामूमूं हतम् ॥ १७ ॥**

**घर्मः । सम्-इद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्र-हः ॥ भवः । च । पृश्नि-बाहुः । च । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥१७॥**

**भाषार्थ**—( अग्निना ) अग्नि करके ( समिद्धः ) प्रज्वलित ( घर्मः ) ताप [ के समान ] ( अयम् ) यह ( होमः ) आत्मसमर्पण ( सहस्रहः ) सहस्र [ क्लेश ] नाश करने वाला है। ( पृश्निबाहुः ) भूमि को बाहु पर रखने वाले ( भवः ) हे सुख उत्पन्न करने वाले [ प्राण वायु ] ( च ) और ( शर्व ) क्लेश नाशक [ अपान वायु ]! तुम दोनों ( अमूम् सेनाम् ) उस सेना को ( च ) निश्चय करके ( हतम् ) मारो ॥ १७ ॥

**भावार्थ**—मनुष्य आत्मसमर्पण के साथ प्राण और अपान वायु को स्थिर करके विघ्नों का नाश करें ॥ १७ ॥

---

१६—( इमे ) सर्वत्रव्याप्ताः ( उप्ताः ) डु वप् बीजसन्ताने-क्त । विस्तृताः ( मृत्युपाशाः ) मरणबन्धाः ( यान् ) ( आक्रम्य ) पादेन प्राप्य ( न ) निषेधे ( मुच्यसे ) मुक्तो भवसि ( अमुष्याः ) तस्याः ( हन्तु ) हननं करोतु ( सेनायाः ) ( इदम् ) ( कूटम् ) कूट परितापे-अच्। बन्धनयन्त्रम् ( सहस्रशः ) म० १। बहुप्रकारेण ॥

१७—( घर्मः ) ताप इव ( समिद्धः ) प्रदीप्तः ( अग्निना ) पावकेन (होमः) अ० ४। ३८। ५। आत्मसमर्पणम् ( सहस्रहः ) हन-ड। सहस्रक्लेशनाशकः ( भवः ) अ० ८। २। ७। हे सुखप्रापक प्राणवायो ( च ) ( पृश्निबाहुः ) पृश्निः पृथिवी-अ० ८। ७। २१। पृथिवी बाहौ बले यस्य सः ( च ) निश्चये ( शर्व ) अ० ८। २। ७। हे क्लेशनाशक अपानवायो (सेनाम् अमूम्) ( हतम् ) नाशयतम्॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

मृत्योः । आपम् । आ । पद्यन्ताम् । क्षुधम् । सेदिम् । वधम् । भयम् ॥ इन्द्रः । च । अक्षु-जालाभ्याम् । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—[ वे लोग ] ( मृत्योः ) मृत्यु के ( आपम् ) बन्धन, ( क्षुधम् ) भूख, ( सेदिम् ) महामारी, ( वधम् ) वध और ( भयम् ) भय ( आ पद्यन्ताम् ) प्राप्त करें । ( इन्द्रः ) हे प्राण वायु ! ( च ) और ( शर्व ) हे अपान वायु ! तुम दोनों ( अक्षुजालाभ्याम् ) बन्धन और जालों से ( अमूम् सेनाम् ) उस सेना को ( हतम् ) मारो ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतापी मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल से शत्रुओं को नाना क्लेश देकर नाश करे ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

परा-जिताः । प्र । त्रसत । अमित्राः । नुत्ताः । धावत । ब्रह्मणा ॥ बृहस्पति-प्रनुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—( अमित्राः ) हे पीड़ा देने वालो ! ( पराजिताः ) हार मान कर ( प्र त्रसत ) डर जाओ, ( ब्रह्मणा ) विद्वान् करके ( नुत्ताः ) ढकेले हुये तुम

---

१८—( मृत्योः ) मरणस्य ( आपम् ) आप दीप्तौ, ग्रहणे, गतौ च-घञ् । ग्रहणम् । बन्धनम् ( आ ) समन्तात् ( पद्यन्ताम् ) प्राप्नुवन्तु ( क्षुधम् ) बुभुक्षाम् ( सेदिम् ) म० ६ । महाविपत्तिम् ( वधम् ) घातनम् ( भयम् ) ( इन्द्रः ) हे प्राणवायो ( च ) ( अक्षुजालाभ्याम् ) अक्ष व्याप्तौ-उ । बन्धनपाशाभ्याम् । अन्यत्पूर्ववत्-म० १७ ॥

१९—( पराजिताः ) पराभूताः ( प्र ) ( त्रसत ) त्रसी उद्वेगे भये च । विभीत ( अमित्राः ) हे पीडकाः ( नुत्ताः ) प्रेरिताः ( धावत ) पलायध्वम् ( ब्रह्मणा )

( धावत ) दौड़े जाओ। ( बृहस्पतिप्रणुत्तानाम् ) बृहस्पति [ वेदों के रक्षक ] करके ढकेले हुये ( अमीषाम् ) उन लोगों में से ( कश्चन ) कोई भी (मा मोचि) न छूटे ॥ १९ ॥

भावार्थ—विद्वानों की नीति निपुणता से सब शत्रु नाश प्राप्त करें ॥१९॥

**अवं पद्यन्तामेषामायुंधानि मा शंकन् प्रतिधामिषुंम्। अथैषां बहु बिभ्यंतामिषंवो घ्नन्तु मर्मणि ॥ २० ॥**

अवं। पद्यन्ताम्। एषाम्। आयुंधानि। मा। शकन्। प्रति-धाम्। इषुंम् ॥ अर्थ। एषाम्। बहु। बिभ्यंताम्। इषंवः। घ्नन्तु। मर्मणि ॥ २० ॥

भाषार्थ—( एषाम् ) इन के ( आयुधानि ) हथियार ( अव पद्यन्ताम् ) गिर पड़ें, वे लोग ( इषुम् ) बाण ( प्रतिधाम् ) रोपने को ( मा शकन् ) न समर्थ हों। ( अथ ) और ( बहु ) बहुत ( बिभ्यताम् ) डरे हुये ( एषाम् ) इन लोगों के ( इषवः ) बाण ( मर्मणि ) [ उनके ही ] मर्म स्थान में (घ्नन्तु) घाव करें ॥२०॥

भावार्थ—चतुर सेनापति बड़े बल और शीघ्रता से शत्रुओं पर धावा करे, जिस से वे लोग घबड़ा कर अपने हथियारों से अपने आप को मारें ॥२०॥

**सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः। मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥**

---

विदुषा सेनापतिना ( बृहस्पतिप्रणुत्तानाम् ) बृहतां वेदानां पालकेन प्रेरितानाम् ( अमीषाम् ) तेषां शत्रूणाम् ( मा मोचि ) मा मुक्तो भवतु (कश्चन) कोऽपि ॥

२०—( अव पद्यन्ताम् ) अधः पतन्तु ( एषाम् ) शत्रूणाम् ( आयुधानि ) शस्त्राणि ( मा शकन् ) समर्था मा भूवन् ( प्रतिधाम् ) शकि णमुलकमुलौ। पा० ३।४।१२। प्रतिधा-णमुल्। प्रतिधातुम्। आरोपितुम्। लक्ष्यीकर्त्तुम् ( अथ ) अपि च ( एषाम् ) ( बहु ) अधिकम् ( बिभ्यताम् ) शतृ प्रत्ययः। त्रसताम् ( इषवः ) बाणाः ( घ्नन्तु ) मारयन्तु ( मर्मणि ) मर्मस्थाने ॥

सम् । क्रोशताम् । एनान् । द्यावापृथिवी इति । सम् । अन्त-
रिक्षम् । सह । देवताभिः ॥ मा । ज्ञातारम् । मा । प्रति-स्थाम् ।
विदन्त । मिथः । वि-घ्नानाः । उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—( द्यावापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी ( एनान् ) इनको ( सम् ) बल से ( क्रोशताम् ) पुकारें, ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष लोक ( देवताभिः सह ) सब लोकों के साथ ( सम् ) बल से [ पुकारे ] । वे लोग ( मा ) न तो (ज्ञातारम्) जानकार पुरुष को और ( मा ) न ( प्रतिष्ठाम् ) प्रतिष्ठा [ आश्रय वा आदर ] ( विदन्त ) पावें, और ( मिथः ) आपस में ( विघ्नानाः ) मारते हुये ( मृत्युम् ) मृत्यु ( उप यन्तु ) पावें ॥ २१ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुदल में कोलाहल मचाकर शत्रुओं को सर्वथा निर्बल करदे ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है—अ० ६ । ३२ । ३ ॥

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्त-
रिक्षमुद्धिः। द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्त-
र्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अश्वतर्यः । देव-रथस्य । पुरोडाशाः ।
शफाः । अन्तरिक्षम् । उद्धिः ॥ द्यावापृथिवी इति । पक्षसी
इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तः-देशाः । किम्-कराः ।
वाक् । परि-रथ्यम् ॥ २२ ॥

---

२१—( सम् ) सम्यक् बलात् ( क्रोशताम् ) आह्वयताम् ( एनान् ) शत्रून् ( द्यावापृथिवी ) सूर्यभूलोकौ ( सम् ) (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (सह) (देवताभिः) गमनशीलैर्लोकैः ( मा ) निषेधे ( ज्ञातारम् ) परिचायकम् ( प्रतिष्ठाम् ) आश्रयम् । गौरवम् ( मा विदन्त ) मा प्राप्नुवन्तु ( मिथः ) परस्परम् ( विघ्नानाः ) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । पा० ३ । २ । १२९ । हन्—चानश् । विनाशयन्तः ( उप यन्तु ) प्राप्नुवन्तु ( मृत्युम् ) मरणम् ॥

भाषार्थ—( देवरथस्य ) विजय चाहने वालों के रथ की ( चतस्रः ) चारों ( दिशः ) दिशायें (अश्वतर्यः) खच्चरी [ हैं ], ( पुरोडाशाः ) पूरी पूये ( शफाः ) खुर, ( अन्तरिक्षम् ) अन्तरिक्ष ( उद्धिः ) शरीर [ बैठक ] । ( द्यावापृथिवी ) सूर्य और पृथिवी ( पक्षसी ) दोनों पक्खे, ( ऋतवः ) ऋतुयें ( अभीशवः ) बागडोरें, ( अन्तर्देशाः ) अन्तर्दिशायें ( किंकराः ) सेवक लोग, ( वाक् ) वाणी ( परिरथ्यम् ) चक्र की पुट्ठी [ वा हाल ] है ॥ २२ ॥

भावार्थ—सब प्रकार से सावधान सेनापति शत्रुओं पर पूरा विजय पाता है ॥ २२ ॥

**सं॒व॒त्स॒रो रथः॑ परिवत्स॒रो र॑थोप॒स्थो वि॒राडी॒षाग्नी र॑थमु॒खम् । इन्द्रः॑ सव्य॒ष्ठाश्च॒न्द्रमाः॒ सार॑थिः ॥ २३ ॥**

**स॒म्ऽव॒त्स॒रः । रथः॑ । प॒रि॒ऽव॒त्स॒रः । र॒थ॒ऽउ॒प॒स्थः । वि॒ऽराट् । ई॒षा । अ॒ग्निः । र॒थ॒ऽमु॒खम् ॥ इन्द्रः॑ । स॒व्य॒ऽस्थाः । च॒न्द्रमाः॑ । सार॑थिः ॥ २३ ॥**

भाषार्थ—( संवत्सरः ) यथाविधि निवास करनेवाला काल, ( रथः )

---

२२—( दिशः ) प्राच्यादयः ( चतस्रः ) ( अश्वतर्यः ) वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे । पा० ५ । ३ । ९१ । अश्व—ष्टरच्, ङीप् । खचर्यः ( देवरथस्य ) विजिगीषूणां युद्धयानस्य ( पुरोडाशाः ) पुरोऽग्रे दाश्यते दीयते । दाशृ दाने—घञ् । पक्वान्नविशेषाः ( शफाः ) खुराः ( अन्तरिक्षम् ) ( उद्धिः ) भुवः कित् । उ० २ । ११२ । उन्दी क्लेदने—इसिन्, कित्, पृषोदरादिरूपं यथा ऊधः । शरीरम् । स्थितिस्थानम् ( द्यावापृथिवी ) सूर्यभूमी ( पक्षसी ) पक्ष परिग्रहे—असुन् । रथपार्श्वौ ( ऋतवः ) वसन्तादयः कालाः ( अभीशवः ) अ० ६ । १३७ । २ । अश्वरश्मयः ( अन्तर्देशाः ) अन्तर्दिशाः ( किंकराः ) किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज् विधानम् । वा० पा० ३ । २ । २१ । किम्+डु कृञ् करणे—अच् । दासाः ( वाक् ) वाणी ( परिरथ्यम् ) रथस्येदम् । रथाद्यत् । पा० ४ । ३ । १२१ । रथ—यत् । रथचक्रपरिधिः ॥

२३—( संवत्सरः ) अ० ६ । ५५ । ३ । सम्+वस—सरन् । सम्यग्

रथ, ( परिवत्सरः ) सब ओर से निवास करनेवाला अवकाश ( रथोपस्थः ) रथ, की बैठक, ( विराट् ) विराट् [ विविध प्रकाशमान सृष्टि ] ( ईषा ) जुये का दण्डा, ( अग्निः ) अग्नि ( रथमुखम् ) रथ का मुख [ अग्रभाग ] । ( इन्द्रः ) सूर्य ( सव्यष्ठाः ) बाईं ओर बैठने वाला [ सारथी ], ( चन्द्रमाः ) चन्द्रमा ( सारथिः ) [ दूसरा ] सारथी [ है ] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २२ के समान ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥ ( २१ )

इतः । जय । इतः । वि । जय । सम् । जय । जय । स्वाहा ॥ इमे । जयन्तु । परा । अमी इति । जयन्ताम् । स्वाहा । एभ्यः । दुराहा । अमीभ्यः ॥ नील-लोहितेन । अमून् । अभि-अवतनोमि ॥ २४ ॥ ( २१ )

भाषार्थ—(इतः) यहां ( जय ) जीत, ( इतः ) यहां (वि जय) विजय कर, (सम् जय) पूरा पूरा जीत, (जय) जीत, ( स्वाहा ) यह सुवाणी है। ( इमे ) यह

निवासकः कालः ( रथः ) यानभेदः ( परिवत्सरः ) अ० ६ । ५५ । ३ । परि+वस-सरन् परितो निवासकोऽवकाशः ( रथोपस्थः ) रथे स्थितिस्थानम् ( विराट् ) वि+राजृ दीप्तौ—क्विप् । विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा—निरु० ७ । १३ । विविधं दीप्यमाना सृष्टिः ( ईषा ) अ० । २ । ८ । ४ । रथयुगदण्डः ( अग्निः ) पावकः ( रथमुखम् ) रथाग्रम् ( इन्द्रः ) सूर्यः (सव्यष्ठाः ) सव्य+ष्ठा-विच् । स्थास्थिन्स्थृणामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । वामस्थः सारथिः ( चन्द्रमाः ) अ० ५ । २४ । १० । चन्द्रलोकः ( सारथिः ) सर्तेर्णिच्च । उ० ४ । ८९ । सृ गतौ णिच्—अथिन्, णेर्लोपो णित्वाद् वृद्धिः । रथचालकः ॥ २४ ॥

२४—( इतः ) अत्र ( जय ) जयं प्राप्नुहि ( इतः ) ( वि ) विविधम् ( जय ) ( सम् ) सम्यक् ( जय ) ( जय ) ( स्वाहा ) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी

लोग ( जयन्तु ) जीतें, ( अमी ) वे लोग ( परा जयन्ताम् ) हार जावें, ( एभ्यः ) इन लोगों के लिये ( स्वाहा ) सुवाणी, ( अमीभ्यः ) उन लोगों के लिये (दुराहा) दुर्वाणी [ हो ] । (नीललोहितेन) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति से (अमून्) उन लोगों को ( अभ्यवतनोमि ) गिरा कर फैलाता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—प्रतापी पराक्रमी शूर सेनापति शत्रुओं पर विजय पाकर बहुत धन प्राप्त करके अपनी सुकीर्ति और शत्रुओं की अपकीर्ति करे ॥ २४ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

---

# अथ पञ्चकोऽनुवाकः ॥

## सूक्तम् ९ ॥ [ ब्रह्मोद्यम्—ब्रह्म का व्याख्यान ]

[ यह दूसरा ब्रह्मोद्य सूक्त है, देखो—अथर्व का० ५ सू० १ ॥ ]

१—२६ ॥ प्रजापतिर्विराड् वा देवता ॥ १, ६, ७, ९–११, १३, १५, १६, १७, १९ त्रिष्टुप्; २, ३, २१ पङ्क्तिः; ४, ५, २३, २५, २६ अनुष्टुप्; ८, २२ जगती; १२, २४ भुरिक् त्रिष्टुप्; १४ अतिजगती; १८ निचृत् त्रिष्टुप्; २० भुरिक् पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

**कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः । वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥**

---

( इमे ) अस्माकं वीराः ( अमी ) शत्रवः ( पराजयन्ताम् ) पराजीयन्ताम् । पराभूता भवन्तु ( एभ्यः ) शूरेभ्यः ( दुराहा ) दुर्+आङ्+ह्वम् आह्वाने, यद्वा हु दानादिषु—डा । कुवाणी । अपकीर्तिः ( अमीभ्यः ) शत्रुभ्यः ( नीललोहितेन ) अ० ४ । १७ । ४ । नीलानां निधीनां प्रादुर्भावेन । बहुधनप्राप्त्या ( अमून् ) शत्रून् ( अभ्यवतनोमि ) अभितो नीचैर्विस्तारयामि ॥

कुतः । तौ । जातौ । कुतमः । सः । अर्धः । कस्मात् । लोकात् । कुतमस्याः । पृथिव्याः ॥ वत्सौ । वि-राजः । सलिलात् । उत् । ऐताम् । तौ । त्वा । पृच्छामि । कुतरेण । दुग्धा ॥१॥

भाषार्थ—( कुतः ) कहां से ( तौ ) वे दोनों [ ईश्वर और जीव ] ( जातौ ) प्रकट हुये हैं, ( कतमः ) [ बहुतों में से ] कौन सा ( सः ) वह (अर्धः) ऋद्धि वाला है, ( कस्मात् लोकात् ) कौन से लोक से और ( कतमस्याः ) [ बहुतसियों में से ] कौन सी ( पृथिव्याः ) पृथिवी से ( विराजः ) विविध ऐश्वर्यवाली [ ईश्वर शक्ति, सूक्ष्म प्रकृति ] के (वत्सौ) बताने वाले ( सलिलात् ) व्याप्ति वाले [ समुद्ररूप अगम्य दशा ] से ( उत् ऐताम् ) वे दोनो उदय हुये हैं, ( तौ ) उन दोनों को ( त्वा ) तुझ से ( पृच्छामि ) मैं पूछता हूं, वह [विराट्] ( कतरेण ) [ दो के बीच ] कौन से करके ( दुग्धा ) पूर्ण की गई है ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर और जीव अपने सामर्थ्य से सब लोकों और सब कालों में व्याप्त हैं, उन्हीं दोनों से प्रकृति के विविध कर्म प्रकट होते हैं, ईश्वर महा ऋद्धिमान् है और वही प्रकृति को संयोग वियोग आदि चेष्टा देता है ॥१॥

---

१—( कुतः ) कस्मात् स्थानात् ( तौ ) ईश्वरजीवौ ( जातौ ) प्रादुर्भूतौ ( कतमः ) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् । पा० ५ । ३ । ९३ । किम्—डतमच् । बहूनां मध्ये कः ( सः ) ईश्वरः ( अर्धः ) ऋधु वृद्धौ—घञ् । प्रवृद्धः । ऋद्धिमान् ( कस्मात् ) ( लोकात् ) भुवनात् ( कतमस्याः ) कतम—टाप् । बह्वीनां मध्ये कस्याः ( पृथिव्याः ) भूलोकात् ( वत्सौ ) वृतृवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि, वा वस निवासे आच्छादने च—सप्रत्ययः । वदितारौ । व्याख्यातारौ ( विराजः ) सत्सूद्विषद्रुहदुह० । पा० ३ । २ । ६१ । वि+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क्विप् । विविधैश्वर्याः । ईश्वरशक्तेः । प्रकृतेः ( सलिलात् ) सलिकल्यनिमहि० । उ० १ । ५४ । षल गतौ—इलच् । व्यापनस्वभावात् । समुद्ररूपात् । अगम्यविधानात् ( उदैताम् ) इण् गतौ—लङ् । उदगच्छताम् ( तौ ) ईश्वरजीवौ ( त्वा ) विद्वांसम् ( पृच्छामि ) अहं जिज्ञासे ( कतरेण ) किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् । पा० ५ । ३ । ९२ । किम्—डतरच् । ईश्वरजीवयोर्मध्ये केन ( दुग्धा ) प्रपूरिता सा विराट् ॥

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः । वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

यः । अक्रन्दयत् । सलिलम् । महि-त्वा । योनिम् । कृत्वा । त्रि-भुजम् । शयानः ॥ वत्सः । काम-दुघः । वि-राजः । सः । गुहा । चक्रे । तन्वः । पराचैः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(त्रिभुजम्) तीन भुजा वाला, [ऊंचे नीचे और मध्यलोकरूप] (योनिम्) घर (कृत्वा) बनाकर (यः शयानः) जिस सोते हुये ने (महित्वा) अपनी महिमा से (सलिलम्) व्याप्ति वाले [अगम्य देश] को (अक्रन्दयत) पुकारा। (सः) उस (कामदुघः) कामना पूरक, (वत्सः) बोलने वाले [परमेश्वर] ने (विराजः) विविध ईश्वरी [प्रकृति] की (गुहा) गुहा में [अपने] (तन्वः) विस्तारों को (पराचैः) दूर दूर तक (चक्रे) किया ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने प्रलय, सृष्टि और अवसान में विराजमान होकर अपनी अगम्य शक्तिद्वारा प्रकृति में चेष्टा देकर विविध संसार रचा है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् । ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि । त्रीणि । बृहन्ति । येषाम् । चतुर्थम् । वि-युनक्ति । वाचम् ॥

२—(यः) परमेश्वरः (अक्रन्दयत्) क्रदि आह्वाने रोदने च-लङ्। आहूतवान् (सलिलम्) म० १। व्यापनस्वभावम्। अगम्यदेशम् (महित्वा) महत्त्वेन (योनिम्) गृहम्—निघ० ३।४। (कृत्वा) रचयित्वा (त्रिभुजम्) उच्चनीचमध्यलोकत्रयरूपभुजयुक्तम् (शयानः) शयनं गतः (वत्सः) म० १ वदिता (कामदुघः) दुह प्रपूरणे—कप्। अ० ४।३४।८। अभीष्टपूरकः (विराजः) म० १। विविधेश्वर्याः। प्रकृतेः (सः) ईश्वरः (गुहा) गुहायाम्। हृदये (चक्रे) कृतवान् (तन्वः) तनूः। विस्तृतीः (पराचैः) दूरदूरम् ॥

ब्रह्मा । एनत् । विद्यात् । तपसा । विपः-चित् । यस्मिन् । एकम् । युज्यते । यस्मिन् । एकम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( यानि ) जो ( त्रीणि ) तीन [ सत्त्व, रज और तम ] ( बृहन्ति ) बड़े बड़े हैं, ( येषाम् ) जिन में ( चतुर्थम् ) चौथा [ ब्रह्म ] ( वाचम् ) वाणी ( वियुनक्ति ) विलगाता है । ( विपश्चित् ) बुद्धिमान् ( ब्रह्मा ) ब्रह्मा [ वेदवेत्ता ब्राह्मण ] ( एनत् ) इस [ ब्रह्म ] को ( तपसा ) तप से ( विद्यात् ) जाने, ( यस्मिन् ) जिस [ तप ] में ( एकम् ) एक [ ब्रह्म ] ( यस्मिन् ) जिस [ तप ] में ( एकम् ) एक [ ब्रह्म ] ( युज्यते ) ध्यान किया जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने तीनों गुणों द्वारा सृष्टि रची है और जिस ने वेद द्वारा सब उपदेश किया है, उस परमात्मा का ज्ञान अनन्यध्यानी योगी को ही तप द्वारा होता है ॥ ३ ॥

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

बृहतः । परि । सामानि । षष्ठात् । पञ्च । अधि । निः-मिता ॥
बृहत् । बृहत्याः । निः-मितम् । कुतः । अधि । बृहती । मिता ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( षष्ठात् ) छठे ( बृहतः ) बड़े [ ब्रह्म ] से ( पञ्च ) पांच ( सामानि ) कर्म समाप्त करनेवाले [ पांच पृथिवी आदि भूत ] ( परि ) सब

३—( यानि ) ( त्रीणि ) सत्त्वरजस्तमांसि ( बृहन्ति ) प्रवृद्धानि ( येषाम् ) त्रयाणां मध्ये ( चतुर्थम् ) तुरीयं शुद्धं ब्रह्म ( वियुनक्ति ) वियोजयति । प्रकटयति ( वाचम् ) वाणीम् ( ब्रह्मा ) अ० २ । ७ । वेदवेत्ता विप्रः । योगिजनः ( एनत् ) निर्दिष्टं ब्रह्म ( विद्यात् ) जानीयात् ( तपसा ) ब्रह्मचर्यादिव्रतेन ( विपश्चित् ) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधावी—निघ० ३ । १५ । ( यस्मिन् ) तपसि ( एकम् ) ब्रह्म ( युज्यते ) समाधीयते ( यस्मिन् ) ( एकम् ) द्विर्वचनं वीप्सायाम् ॥

४—( बृहतः ) प्रवृद्धाद् ब्रह्मणः ( परि ) सर्वतः ( सामानि ) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । षो अन्तकर्मणि-मनिन् । कर्म समापकानि पृथि-

और ( अधि ) अधिकार पूर्वक ( निर्मिता ) बने हैं। ( बृहत् ) बड़ा [ जगत् ] ( बृहत्याः ) बड़ी [ विराट्, प्रकृति ] से ( निर्मितम् ) बना है, ( कुतः ) कहां से ( अधि ) फिर ( बृहती ) बड़ी [ प्रकृति ] ( मिता ) बनी है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पृथिवी, जल तेज, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों की अपेक्षा जो छठा ब्रह्म है, उससे वे पञ्चभूत प्रकट हुये हैं और उसी की शक्ति से यह जगत् बना है और उसी शक्तिमान् से वह शक्ति उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निः-मिता ॥
माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥५॥

भाषार्थ—( बृहती ) स्थूल सृष्टि ( मात्रायाः ) तन्मात्रा से ( परि ) सब प्रकार और ( मातुः ) निर्माता [ परमेश्वर ] से ( अधि ) ही ( मात्रा ) तन्मात्रा ( निर्मिता ) बनी है। ( माया ) बुद्धि ( ह ) निश्चय करके ( मायायाः ) बुद्धि रूप परमेश्वर से और ( मायायाः ) प्रज्ञारूप परमेश्वर से ( मातली ) इन्द्र [ जीव ] का रथवान् [ अहंकार वा मन ] ( परि ) सब प्रकार ( जज्ञे ) उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

---

व्यादिभूतानि ( षष्ठात् ) ( पञ्च ) पञ्चसंख्याकानि (अधि) अधिकारे ( निर्मिता) रचितानि ( बृहत् ) प्रवृद्धं जगत् ( बृहत्याः ) प्रवृद्धायाः विराडाख्यायाः प्रकृतेः सकाशात् ( निर्मितम् ) रचितम् ( कुतः ) कस्मात् ( अधि ) ( पुनः ) ( बृहती ) महती विराट् ( मिता ) रचिता ॥

५—( बृहती ) स्थूला सृष्टिः ( परि ) सर्वतः ( मात्रायाः ) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । माङ् माने—त्रन् । मीयन्तेऽनया विषयाः । तस्याः तन्मात्रायाः सकाशात् ( मातुः ) निर्मातुः परमेश्वरात् (मात्रा ) तन्मात्रा (अधि) एव ( निर्मिता ) रचिता ( माया ) माछाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०८ । मा शब्दे माने च—य, टाप् । प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । ( ह ) एव (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (मायायाः) बुद्धिरूपात् परमेश्वरात् ( मायायाः ) ( मातली ) मतं ज्ञानं लाति गृह्णातीति मतल इन्द्रो जीवः । मत+ला-क । मतलस्यायं पुमान् । अत इञ् । पा० ४ । १ । ९५ । मतल-इञ् । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मातलिः । इन्द्रसारथिः । मनः यथा यजु० ३४ । ६ । (परि) सर्वतः॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से स्थूल और सूक्ष्म जगत्, और इन्द्र, अर्थात्, जीव का रथवान् मन भी उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

मन को अन्यत्र भी रथवान् सा माना है—यजु० ३४ । ६ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो [ मन ] मनुष्यों को [ इन्द्रियों के द्वारा ] लगातार लिये लिये फिरता है, जैसे चतुर रथवान् वेगवाले घोड़ों को बागडोर से; जो हृदय में ठहरा हुआ; सब का चलाने हारा, बड़ाही वेगवाला है वह मेरा मन मङ्गल विचार युक्त हो ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः । ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रति-मा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति । वि-बबाधे । अग्निः ॥ ततः । षष्ठात् । आ । अमुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इतः । यन्ति । अभि । षष्ठम् । अह्नः ॥ ६ ॥

भावार्थ—( उपरि ) ऊपर विराजमान ( वैश्वानरस्य ) सब नरों के हितकारी [ परमेश्वर ] की ( प्रतिमा ) प्रतिमा [ आकृति समान ] ( द्यौः ) आकाश है, ( यावत् ) जितना कि ( अग्निः ) अग्नि [ सर्वव्यापक परमेश्वर ] ने ( रोदसी ) सूर्य और पृथिवी लोक को ( विबबाधे ) अलग अलग रोका है। ( ततः ) उसी के कारण ( अमुतः ) उस ( षष्ठात् ) छठे [ परमेश्वर म० ४ ] से ( अह्नः ) दिन [ प्रकाश ] के ( स्तोमाः ) स्तुति योग्य गुण [ सृष्टि काल में ]

६—( वैश्वानरस्य ) अ० १ । १० । १४ । सर्वनरहितस्य ( प्रतिमा ) अ० ३ । १० । ३ । आकृतिवत् ( उपरि ) सर्वोपरि विराजमानस्य ( द्यौः ) आकाशः ( यावत् ) यत्परिमाणम् ( रोदसी ) अ० ४ । १ । ४ । द्यावापृथिव्यौ ( विबबाधे ) पृथग् रुरुधे ( अग्निः ) सर्वव्यापकः परमेश्वरः ( ततः ) तस्मात् कारणात् ( षष्ठात् ) म० ४ । पञ्चभूतापेक्षया षष्ठात्परमेश्वरात् ( अमुतः ) पूर्वोक्तात् ( आ

( आ यन्ति ) आते हैं, और ( इतः ) यहां से ( षष्ठम् अभि ) छठे [ परमेश्वर ] की ओर [ प्रलय समय ] ( उत् यन्ति ) ऊपर जाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—आकाश समान सर्वव्यापक और पञ्चभूतों की अपेक्षा छठे [ म० ४ ] परमेश्वर ने सूर्य पृथिवी आदि लोकों को प्राणियों के उपकार के लिये अलग अलग किया है, उसकेही सामर्थ्य से प्रकाश आदि प्रकट और लुप्त होते हैं ॥६॥

परमेश्वर आकाश समान व्यापक है जैसा कि यजुर्वेद-४० । १७ । का वचन है [ ओ३म् खं ब्रह्म ] सब का रक्षक ब्रह्म आकाश [के तुल्य व्यापक है ]॥

**षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपे॒मे त्वं हि यु॒क्तं यु॑यु॒क्षे योग्यं॑ च । वि॒राजं॑माहु॒र्ब्रह्म॑णः पि॒तरं॒ तां नो॒ वि धे॑हि यति॒धा सखि॑भ्यः ॥ ७ ॥**

**षट् । त्वा । पृ॒च्छा॒म॒ । ऋष॑यः । क॒श्य॒प॒ । इ॒मे । त्वम् । हि । यु॒क्तम् । यु॒यु॒क्षे । योग्य॑म् । च॒ ॥ वि॒-राज॑म् । आ॒हुः॒ । ब्रह्म॑णः । पि॒तर॑म् । ताम् । नः॒ । वि । धे॒हि॒ । य॒ति॒-धा । सखि॑-भ्यः ॥७॥**

भाषार्थ—( कश्यप ) हे दृष्टिमान् विद्वन् ! ( त्वम् ) तू ने ( हि ) ही ( युक्तम् ) ध्यान किये हुये ( च ) और ( योग्यम् ) ध्यान योग्य [ पदार्थ ] को ( युयुक्षे ) ध्यान किया है, ( त्वा ) तुझ से ( पृच्छाम ) हम पूंछें, ( इमे ) ये ( षट् ) छह ( ऋषयः ) ऋषि अर्थात् इन्द्रियां [ त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और मन ] ( ब्रह्मणः ) ब्रह्म की ( विराजम् ) विविधेश्वरी शक्ति को ( पितरम्=

---

यन्ति ) आगच्छन्ति ( स्तोमाः ) स्तुत्यगुणाः ( उद्यन्ति ) उद्गच्छन्ति ( इतः ) अस्माल्लोकात् ( अभि ) प्रति ( षष्ठम् ) ब्रह्म ( अह्नः ) दिनस्य । प्रकाशस्य ॥

७—( षट् ) षट्संख्याकाः ( त्वा ) त्वाम् ( पृच्छाम ) प्रश्नेन निश्चिनवाम ( ऋषयः ) अ० ४ । ११ । ६ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । इति वचनात्, त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनांसीन्द्रियाणि ( कश्यप ) अ० १ । १४ । ४ । पश्यक विद्वन् ( त्वम् ) ( हि ) अवश्यम् ( युक्तम् ) समाहितम् ( युयुक्षे ) युज समाधौ—लिट् । त्वं समाहितवानसि ( योग्यम् ) ध्यातव्यम् ( च ) ( विराजम् ) म० १ । महेश्वरीं शक्तिम् (आहुः) कथयन्ति (ब्रह्मणः)

अपितरम् ) निश्चय करके ( आहुः ) बताते हैं, ( ताम् ) उसे ( सखिभ्यः नः ) हम मित्रों को, ( यतिधा ) जितने प्रकार हो, ( वि धेहि ) विधान कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् के विचारवान् विद्वान् आचार्य और शिष्य इन्द्रिय आदि पदार्थों की रचना देखकर, परब्रह्म की शक्ति विचार कर सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें ॥ ७ ॥

**यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् । यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥**

याम् । प्र-च्युताम् । अनु । यज्ञाः । प्र-च्यवन्ते । उप-तिष्ठन्ते । उप-तिष्ठमानाम् ॥ यस्याः । व्रते । प्र-सवे । यक्षम् । एजति । सा । वि-राट् । ऋषयः । परमे । वि-ओमन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( याम् प्रच्युताम् अनु ) जिस आगे बढ़ी हुई के पीछे ( यज्ञाः ) यज्ञ [ संयोग वियोग व्यवहार, सृष्टि समय में ] ( प्रच्यवन्ते ) आगे बढ़ते हैं, ( उपतिष्ठमानाम् ) ठहरती हुई के [ पीछे, प्रलय में ] ( उपतिष्ठन्ते ) ठहर जाते हैं । ( यस्याः ) जिस [ शक्ति ] के ( व्रते ) नियम और ( प्रसवे ) बड़े ऐश्वर्य में ( यक्षम् ) संगति योग्य जगत् ( एजति ) चेष्टा करता है, ( ऋषयः ) हे ऋषि लोगो ! ( सा ) वह ( विराट् ) विविधेश्वरी ( परमे ) सर्वोत्कृष्ट ( व्योमन् ) विविध रक्षक परमेश्वर में है ॥ ८ ॥

---

परमेश्वरस्य ( पितरम् ) अल्लोपः । अपितरम् । निश्चयेन ( ताम् ) विराजम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( वि धेहि ) विधानेन कथय ( यतिधा ) यत्प्रकारेण ( सखिभ्यः ) मित्रेभ्यः ॥

८—( याम् ) विराजम् ( प्रच्युताम् ) अग्रेगताम् ( अनु ) अनुसृत्य ( यज्ञाः ) संयोगवियोगव्यवहाराः ( प्रच्यवन्ते ) प्रकर्षेण गच्छन्ति ( उपतिष्ठन्ते ) स्थितिं प्राप्नुवन्ति ( उपतिष्ठमानाम् ) स्थितिं गच्छन्तीम्, अनु इति-शेषः ( यस्याः ) विराजः ( व्रते ) नियमे ( प्रसवे ) प्रकृष्टैश्वर्ये ( यक्षम् ) वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । यज संगतिकरणे-सप्रत्ययः । संगन्तव्यं जगत् ( एजति ) चेष्टते ( सा ) ( विराट् ) म० १ । महेश्वरी ( ऋषयः ) हे साक्षात्कृत-

**भावार्थ**—जो परमेश्वरशक्ति जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण है, उसका ऋषि लोग ध्यान करते हैं ॥ ८ ॥

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात्। विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अप्राणा। एति। प्राणेन। प्राणतीनाम्। वि-राट्। स्व-राजम्। अभि। एति। पश्चात्॥ विश्वम्। मृशन्तीम्। अभि-रूपाम्। वि-राजम्। पश्यन्ति। त्वे इति। न। त्वे इति। पश्यन्ति। एनाम् ॥ ९ ॥

**भाषार्थ**—( अप्राणा ) न श्वास लेने वाली ( विराट् ) विराट् [ विविधेश्वरी ] ( प्राणतीनाम् ) श्वास लेने वाली [ प्रजाओं ] के ( प्राणेन ) श्वास के साथ ( एति ) चलती है और ( पश्चात् ) फिर ( स्वराजम् अभि ) स्वराट् [ स्वयं राजा, परमेश्वर ] की ओर ( एति ) जाती है। ( विश्वम् ) जगत् को ( मृशन्तीम् ) छूती हुई ( अभि रूपाम् ) मनोहर ( विराजम् ) विराट् [ महेश्वरी ] को ( त्वे ) कोई कोई ( पश्यन्ति ) देखते हैं और ( त्वे ) कोई कोई ( एनाम् ) इस [ महेश्वरी ] को ( न ) नहीं ( पश्यन्ति ) देखते हैं ॥ ९ ॥

---

धर्म्माणः ( परमे ) परमोत्कृष्टे ( व्योमन् ) अ० ५। १७। ६। वि + अव—रक्षणे मनिन्। विविधरक्षके परमात्मनि ॥

९—( अप्राणा ) नास्ति प्राणः श्वासग्रहणावकाशो यस्याः सा। निरन्तरं चेष्टायमाना। निरलसा ( प्राणेन ) श्वासेन ( प्राणतीनाम् ) प्रश्वसन्तीनां प्रजानाम् ( विराट् ) म० १। ईश्वरशक्तिः ( स्वराजम् ) राजृ—क्विप्। स्वयं राजानं परमेश्वरम् (अभि) प्रति (एति) (पश्चात्) पुनः (विश्वम्) जगत् ( मृशन्तीम् ) स्पृशन्तीम् ( अभिरूपाम् ) मनोहराम् ( विराजम् ) महेश्वरीम् ( पश्यन्ति ) साक्षात्कुर्वन्ति ( त्वे ) सर्वनिघृष्वरिष्व॰। उ० १। १५३। तनोतेः—वन्, टिलोपो निपात्यते। त्व इति विनिग्रार्थीयं सर्वनामानुदात्तमर्धनामेत्येके-निरु० १। ७। एके विद्वांसः ( न ) निषेधे ( त्वे ) अन्ये मूढाः ( पश्यन्ति ) ( एनाम् ) विराजम् ॥

भावार्थ—निरन्तर व्यापिनी ईश्वर शक्ति को सूक्ष्मदर्शी पुरुष साक्षात् करते हैं, अज्ञानी उसको नहीं जानते ॥ ९ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥ ( २२ )

कः । वि-राजः । मिथुन-त्वम् । प्र । वेद । कः । ऋतून् । कः । ऊं इति । कल्पम् । अस्याः ॥ क्रमान् । कः । अस्याः । कति-धा । वि-दुग्धान् । कः । अस्याः । धाम । कति-धा । वि-उष्टीः ॥१०॥(२२)

भाषार्थ—( कः ) कौन पुरुष ( विराजः ) विराट् की [ विविधेश्वरी ईश्वर शक्ति की ] ( मिथुनत्वम् ) बुद्धिमत्ता ( प्र ) भले प्रकार ( वेद ) जानता है, ( कः ) कौन ( अस्याः ) इस [ विराट् ] के ( ऋतून् ) ऋतुओं [ नियत कालों ] को, और ( कः ) कौन ( उ ) ही ( कल्पम् ) सामर्थ्य को। ( कः ) कौन ( अस्याः ) इसके ( कतिधा ) कितने ही प्रकार से ( विदुग्धान् ) पूर्ण किये हुये ( क्रमान् ) क्रमों [ विधानों ] को, ( कः ) कौन ( अस्याः ) इसके ( धाम ) घर को और ( कतिधा ) कितने ही प्रकार की ( व्युष्टीः ) समृद्धियों को [ जानता है ] ॥ १० ॥

भावार्थ—दूरदर्शी, विवेकी जन परमात्मा की शक्ति के विविध स्वभावों को जानते हैं ॥ १० ॥

---

१०—( कः ) ( विराजः ) म० १ । विविधेश्वर्याः ( मिथुनत्वम् ) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथ वधे मेधायां च—उनन्, भावे त्व । बुद्धिमत्त्वम् ( प्र ) प्रकर्षेण ( वेद ) जानाति ( ऋतून् ) वसन्तादितुल्यनियतकालान् ( कः ) ( उ ) एव ( कल्पम् ) कृपू सामर्थ्ये—अच् घञ् वा । सामर्थ्यम् ( अस्याः ) पूर्वोक्तायाः ( क्रमान् ) विधानानि ( कः ) ( अस्याः ) ( कतिधा ) कतिप्रकारेण । बहुप्रकारेण ( विदुग्धान् ) विविधपूरितान् ( कः ) ( अस्याः ) ( धाम ) गृहम् ( कतिधा ) ( व्युष्टीः ) वि+वस निवासे, आच्छादने प्रीतौ च, उष दाहे, वश कान्तौ वा—क्तिन् । समृद्धीः । प्रकाशान् । स्तुतीः ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा। महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ११ ॥

इयम्। एव। सा। या। प्रथमा। वि-औच्छत्। आसु। इतरासु। चरति। प्र-विष्टा ॥ महान्तः। अस्याम्। महिमानः। अन्तः। वधूः। जिगाय। नव-गत्। जनित्री ॥ ११ ॥

**भाषार्थ**—( इयम् एव ) यही ( सा ) वह ईश्वरी, [विराट्, ईश्वर शक्ति] है, ( या ) जो ( प्रथमा ) प्रथम ( व्यौच्छत् ) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और ( इतरासु ) दूसरी [ सृष्टियों ] में ( प्रविष्टा ) प्रविष्ट होकर ( चरति ) विचरती है। ( अस्याम् अन्तः ) इसके भीतर ( महान्तः ) बड़ी बड़ी ( महिमानः ) महिमायें हैं, उस ( नवगत् ) नवीन नवीन गति वाली ( वधूः ) प्राप्ति योग्य ( जनित्री ) जननी ने [ अनर्थों को ] ( जिगाय ) जीत लिया है। ११

**भावार्थ**—ईश्वर शक्ति की महिमाओं को अनुभव करके विद्वान् लोग विघ्नों का नाश करते हैं ॥ ११ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ३। १०। ४ ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते। सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा १२

छन्दःपक्षे इति छन्दः-पक्षे। उषसा। पेपिशाने इति। समानम्। योनिम्। अनु। सम्। चरेते इति ॥ सूर्यपत्नी इति सूर्य-पत्नी। सम्। चरतः। प्रजानती इति प्र-जानती। केतुमती इति केतु-मती। अजरे इति। भूरि-रेतसा ॥ १२ ॥

**भाषार्थ**—( उषसा ) उषा [ प्रभात वेला ] के साथ (पेपिशाने) अत्यन्त

११—( इयम् ) परिदृश्यमाना विराट् ( एव ) ( सा ) ईश्वरी ( या ) विराट्। अन्यत् पूर्ववत्–अ० ३। १०। ४ ॥

१२—( छन्दःपक्षे ) छदि संवरणे–असुन्+पक्ष परिग्रहे–अच्। स्वेच्छाया

सुवर्ण वा रूप करती हुई, ( छन्दःपक्षे ) स्वतन्त्रता का ग्रहण करती हुई दोनों ( समानम् ) एक ( योनिम् अनु ) घर [ परमेश्वर] के पीछे पीछे ( सम् चरेते ) मिलकर चलती हैं। ( प्रजानती ) [ मार्ग ] जानती हुई, ( केतुमती ) झण्डा रखती हुई [ जैसे ], ( अजरे ) शीघ्र चलने वाली, ( भूरिरेतसा ) बड़ी सामर्थ्य वाली, ( सूर्यपत्नी ) सूर्य की दोनों पत्नियां [ रात्रि और प्रभात वेलायें ] ( सम् चरतः ) मिलकर विचरती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—उसी विराट् की महिमा से रात्रि और दिन विविध प्रकार संसार का उपकार करते हैं ॥ १२ ॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् १३

ऋतस्य। पन्थाम्। अनु। तिस्रः। आ। अगुः। त्रयः। घर्माः। अनु। रेतः। आ। अगुः। प्र-जाम्। एका। जिन्वति। ऊर्जम्। एका। राष्ट्रम्। एका। रक्षति। देव-यूनाम् १३

भाषार्थ—( तिस्रः ) तीन [ देवियां अर्थात् १—इडा स्तुतियोग्य भूमि वा नीति, २—सरस्वती प्रशस्त विज्ञान वाली विद्या वा बुद्धि, ३—और भारती पोषण करने वाली शक्ति वा विद्या ] ( ऋतस्य ) सत्य शास्त्र के ( पन्थाम् अनु ) पथ पर ( आ अगुः ) चलती आयी हैं और ( त्रयः ) तीन ( घर्माः ) सींचने वाले

अहोरात्र्यौ ( उषसा ) प्रभातवेलया सह (पेपिशाने) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्। पा० ३।२।१२९। पिश अवयवे प्रकाशे-च, यङ्लुकि-चानश्। पेशो हिरण्यनाम-निघ० १।२, रूपनाम-निघ० ३।७। अत्यन्तं पेशो हिरण्यं रूपं वा कुर्वाणे ( समानम् ) सामान्यम् ( योनिम् ) गृहम्। परमेश्वरम् (अनु) अनुसृत्य ( सम चरेते ) समस्तृतीयायुक्तात्। पा० १।३।५४। आत्मने पदम्। मिलित्वा चरतः ( सूर्यपत्नी ) सूर्यस्य पत्न्यौ यथा रात्रिप्रभातवेले ( सम् ) सम्यक् (चरतः) विचरतः ( प्रजानती ) मार्गं ज्ञात्र्यौ ( केतुमती ) पताकावत्यौ तथा ( अजरे ) अजराः क्षिप्रनाम-निघ० २।१५। क्षिप्रगामिन्यौ ( भूरिरेतसा ) बहुवीर्यवत्यौ ॥

१३—( ऋतस्य ) सत्यशास्त्रस्य, वेदस्य ( पन्थाम् ) पन्थानम् ( अनु ) अनुसृत्य ( तिस्रः ) तिस्रो देव्यः, इडासरस्वतीभारत्यः—अ० ५।३।७। तथा ५।१२।८। ( आ अगुः ) आगतवत्यः ( त्रयः ) देवपूजासंगतिकरणदानरूपाः

यज्ञ [ अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण और दान ] ( रेतः अनु ) वीरता के साथ साथ ( आ अगुः ) चलते आये हैं। ( एका ) एक [ इड़ा ] ( प्रजाम् ) प्रजा को ( एका ) एक [ सरस्वती ] ( ऊर्जम् ) पुरुषार्थ वा अन्न को ( जिन्वति ) भरपूर करती है; ( एका ) एक [ भारती ] ( देवयूनाम् ) दिव्यगुण प्राप्त करने वाले [ धर्मात्माओं ] के ( राष्ट्रम् ) राज्य की ( रक्षति ) रक्षा । करती है ॥ १३ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुषार्थी पुरुष वेद मार्ग पर चल कर पुरुषार्थ पूर्वक प्रजा और राज्य की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

तीन देवियों के विषय में देखो—अ० ५। ३। ७। और ५। १२। ८ ॥

**अ॒ग्नीषोमा॑वदधु॒र्या तु॒रीयासी॑द् य॒ज्ञस्य॑ प॒क्षावृष॑यः क॒ल्पय॑न्तः। गा॒य॒त्रीं त्रि॒ष्टुभं॒ जग॑तीमनु॒ष्टुभं॑ बृहद॒र्कीं यज॑मानाय॒ स्व॑रा॒भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥**

**अ॒ग्नीषोमौ॑। अ॒द॒धुः॒। या। तु॒रीया॑। आसी॑त्। य॒ज्ञस्य॑। प॒क्षौ। ऋष॑यः। क॒ल्पय॑न्तः॥ गा॒य॒त्रीम्। त्रि॒-स्तुभ॑म्। जग॑तीम्। अ॒नु॒-स्तुभ॑म्। बृ॒ह॒त्-अ॒र्कीम्। यज॑मानाय। स्वः॑। आ॒-भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥**

भाषार्थ—( यज्ञस्य ) यज्ञ [ रसों के संयोग वियोग ] के (पक्षौ) ग्रहण करने वाले ( अग्नीषोमौ ) सूर्य और चन्द्रमा [ के समान ] ( ऋषयः ) ऋषि लोगों ने, ( या ) जो [ वेद वाणी ] ( तुरीया ) वेगवती वा ब्रह्म की [ जो सत्य,

---

( घर्माः ) सेचकव्यवहारा यज्ञाः—निघ० ३। १७। ( अनु ) अनुलक्ष्य ( रेतः ) वीर्यम् । पुरुषार्थम् ( आ अगुः ) आगतवन्तः ( प्रजाम् ) सन्तानभृत्यादिरूपाम् ( एका ) इडा ( जिन्वति ) तर्पयति ( ऊर्जम् ) ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप्। पुरुषार्थम्। अन्नम्—निघ० २। ७। ( एका ) सरस्वती ( राष्ट्रम् ) राज्यम् ( एका ) भारती ( रक्षति) पाति ( देवयूनाम् ) अ० ४। २१। २। दिव्यगुणप्रापकानाम्। धर्मात्मनाम् ॥

१४—( अग्नीषोमौ ) सूर्यचन्द्रौ यथा ( अदधुः ) धारितवन्तः ( या ) अनुष्टुप् वाक् ( तुरीया ) घच्छौ च। पा० ४। ४। ११७। तुर—छः, तत्र भव

रज और तम तीन गुणों से परे चौथा है ] ( आसीत् ) थी, ( यजमानाय ) यजमान के लिये ( स्वः ) मोक्ष सुख ( आभरन्तीम् ) भर देने वाली [ उस ] ( गायत्रीम् ) गाने योग्य, ( त्रिष्टुभम् ) [ कर्म, उपासना और ज्ञान इन ] तीन से पूजी गयी, ( जगतीम् ) प्राप्ति योग्य, ( बृहदर्कीम् ) बड़े सत्कार वाली ( अनुष्टुभम् ) निरन्तर स्तुति योग्य [ विराट् वा वेदवाणी ] को (कल्पयन्तः) समर्थन करते हुये ( अदधुः ) धारण किया है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ऋषि महात्माओं ने यथावत् नियम पर चलकर वेदवाणी को ग्रहण किया है, उसी प्रकार सब मनुष्य वेदवाणी को स्वीकार कर के मोक्षपद प्राप्त करें ॥ १४ ॥

# पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु

इत्यर्थे । तुरे वेगे भवा । वेगवती । यद्वा चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च । वा० पा० ५ । २ । ५१ । चतुर्—छ, चलोपः । सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयपरं तुरीयं चतुर्थं ब्रह्म । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । तुरीय—अच्, टाप् । ब्रह्मसम्बन्धिनी ( आसीत् ) ( यज्ञस्य ) रसानां संयोगवियोगस्य ( पक्षौ ) ग्रहीतारौ ( ऋषयः ) मुनयः ( कल्पयन्तः ) कृपू सामर्थ्ये—णिचि—शतृ । समर्थयन्तः ( गायत्रीम् ) अ० ३ । ३ । २ । अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् । उ० ३ । १०५ । गै गाने-अत्रन्, ङीप् । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । गानयोग्याम् ( त्रिष्टुभम् ) अ० ६ । ४८ । ३ । त्रि + ष्टुभ पूजायाम्-क्विप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा, का तु त्रिता स्यात् तीर्णतमं छन्दस्त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा, यत् त्रिरस्तोभ त् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते—निरु० ७ । १२ । त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता (जगतीम्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । गम्लृ गतौ—अति, ङीप् । जगती गोनाम—निघ० २ । ११ । जगती गततमं छन्दो जलचरगतिर्वा जलगल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्—निघ० ७ । १३ । गम्यमानाम् । प्राप्तव्याम् ( अनुष्टुभम् ) अनु + ष्टुभ्—क्विप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । अनुष्टुबनुष्टोभनात्—निरु० ७ । १२ । वाचम्—निघ० १ । ११ । निरन्तरस्तुत्यां विराजं वेदवाचं वा ( बृहदर्कीम् ) बहुपूजावतीम् ( यजमानाय ) याजकाय (स्वः) मोक्षसुखम ( आभरन्तीम् ) समन्तात् पोषयन्तीम् ॥

पञ्चर्च। पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥ १५ ॥

पञ्च। वि-उष्टीः। अनु। पञ्च। दोहाः। गाम्। पञ्च-नाम्नीम्। ऋतवः। अनु। पञ्च॥ पञ्च। दिशः। पञ्च-दशेन। क्लृप्ताः। ताः। एक-मूर्ध्नीः। अभि। लोकम्। एकम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—( पञ्च ) पांच ( व्युष्टीः ) विविध प्रकार वास करने वाली [ तन्मात्राओं ] के ( अनु ) साथ साथ ( पञ्च ) पांच [ पृथिवी आदि पांच भूत सम्बन्धी ] ( दोहाः ) पूर्ति वाले पदार्थ हैं, ( पञ्चनाम्नीम् ) पूर्व आदि पांच नाम वाली, यद्वा पांच ओर झुकने वाली ( गाम् अनु ) दिशा के साथ साथ ( पञ्च ) पांच ( ऋतवः ) ऋतुयें हैं [ अर्थात् शरद्, हेमन्त शिशिर सहित, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ]। ( पञ्च ) पांच [ पूर्वादि चार और एक ऊपर वाली ] ( दिशः ) दिशायें ( पञ्चदशेन ) [ पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान + पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, और घ्राण + पांच भूत अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन] पन्द्रह पदार्थ वाले जीवात्मा के साथ ( क्लृप्ताः ) समर्थ की गई हैं, ( ताः ) वे ( एकमूर्ध्नीः ) एक [ परमेश्वर रूप ] मस्तक वाली [ दिशायें ] ( एकम् ) एक

१५—( पञ्च ) पञ्चसंख्याकाः ( व्युष्टीः ) म० १० । वि + वस निवासे-क्तिन्। विविधनिवासशीलाः। तन्मात्राः ( अनु ) अनुसृत्य ( पञ्च ) पृथिव्यादि-पञ्चभूतसम्बन्धिनः (दोहाः) पूरिताः पदार्थाः ( गाम् ) दिशाम् (पञ्चनाम्नीम्) पूर्वादिचतस्र उच्चस्था चैका, ताभिः सह नामयुक्ताम्। यद्वा पञ्चदिक्षु नमनशीलाम् ( ऋतवः ) वसन्तादयः ( अनु ) अनुलक्ष्य ( पञ्च ) अ० ८ । २ । २२ । पञ्चर्तवः......हेमन्तशिशिरयोः समासेन-निरु० ४ । २७ ( पञ्च ) पूर्वादिचतस्र उच्चस्था चैका ( दिशः ) आशाः ( पञ्चदशेन ) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये । पा० २ । २ । २५ । इति पञ्चाधिका दश यत्र स पञ्चदशः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । पञ्चदशन्-डच्। पञ्च-प्राणेन्द्रियभूतानि यस्मिन् तेन जीवात्मना ( क्लृप्ताः ) समर्थिताः ( एकमूर्ध्नीः ) श्वन्नुक्षन्पूषन् । उ० १ । १५९ । मुर्वी बन्धने-कनिन् । एकः परमेश्वरो मूर्धरूपो

( लोकम् अभि ) देश की ओर [ वर्तमान हैं ] ॥ १५ ॥

**भावार्थ**—उसी परमात्मा की शक्ति से पञ्चभूत, ऋतुयें और दिशायें आदि जीवों के सुख के लिये उत्पन्न हुये हैं ॥ १५ ॥

पांच ऋतुओं के लिये देखो—अ० ८। २। २२ और निरु० ४। २७ ॥

**षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति । षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥ १६ ॥**

**षट् । जाता । भूता । प्रथम-जा । ऋतस्य । षट् । ऊं इति । सामानि । षट्-अहम् । वहन्ति ॥ षट्-योगम् । सीरम् । अनु । साम-साम । षट् । आहुः । द्यावापृथिवीः । षट् । उर्वीः ॥१६॥**

**भाषार्थ**—( ऋतस्य ) सत्य स्वरूप परमेश्वर के [ सामर्थ्य से ] ( प्रथमजा ) विस्तार के साथ [ वा पहिले ] उत्पन्न ( षट् भूता ) छह इन्द्रियां [ स्थूल त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और मन ) ( जाता ) प्रकट हुईं, ( षट् उ ) छह ही ( सामानि ) कर्म समाप्त करने वाली [ इन्द्रियां ] ( षडहम् ) छह [ इन्द्रियों ] से व्याप्ति वाले [ देह ] को ( वहन्ति ) ले चलती हैं। ( षड्योगम् ) छह [ स्पर्श, दृष्टि, श्रुति, रसना, घ्राण और मनन सूक्ष्म शक्तियों ] से संयोग वाले ( सीरम् अनु ) वन्धन के साथ साथ ( सामसाम ) प्रत्येक कर्म समाप्त करने वाली [ स्थूल इन्द्रिय है ], [ लोग ] ( षट् षट् ) छह छह [ स्थूल इन्द्रियों

---

यासां ता दिशाः ( अभि ) अभिलक्ष्य ( लोकम् ) देशम् ( एकम् ) ॥

१६—( षट् ) षट्संख्याकानि ( जाता ) प्रादुर्भूतानि ( भूता ) म० ७। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनांसि स्थूलेन्द्रियाणि ( प्रथमजा ) प्रथेरमच्। उ० ५। ६८। प्रथ प्रख्याने विस्तारे च-अमच्। विस्तारेण, आदौ वा जातानि ( ऋतस्य ) सत्यस्वरूपस्य परमात्मनः, सामर्थ्यात्, इति शेषः ( षट् ) षट्संख्याकानीन्द्रियाणि ( उ ) एव ( सामानि ) म० ४। कर्मसमापकानीन्द्रियाणि ( षडहम् ) अह व्याप्तौ-घञर्थे क। षडिन्द्रियैः सह व्यापकं देहम् (वहन्ति) गमयन्ति (षड्योगम् ) षडिन्द्रियाणां सूक्ष्मशक्तियुक्तम् ( सीरम् ) शुसिचिमीनां दीर्घश्च। उ० २। २५। षिञ् बन्धने-क्रन्, बन्धम् ( अनु ) अनुसृत्य ( सामसाम ) म० ४। प्रत्येक-

और उनकी सूक्ष्म शक्तियों से सम्बन्ध वाले ] ( उर्वीः ) विस्तृत (द्यावापृथिवीः) प्रकाशमान और अप्रकाशमान लोकों को ( आहुः ) बताते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि परमेश्वर के सामर्थ्य से स्थूल इन्द्रियां और उनकी सूक्ष्म शक्तियां उत्पन्न हुई और उनके ही आश्रित संसार के सब पदार्थ हैं ॥ १६ ॥

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः। सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥ १७ ॥

षट्। आहुः। शीतान्। षट्। ऊं इति। मासः। उष्णान्। ऋतुम्। नः। ब्रूत। यतमः। अति-रिक्तः ॥ सप्त। सु-पर्णाः। कवयः। नि। सेदुः। सप्त। छन्दांसि। अनु। सप्त। दीक्षाः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—वे [ ईश्वर नियम ] ( षट् ) छह ( शीतान् ) शीत और ( षट् उ ) छह ही ( उष्णान् ) उष्ण (मासः) महीने (आहुः) बताते हैं, (ऋतुम्) [ वह ] ऋतु ( नः ) हमें ( ब्रूत ) बताओ ( यतमः ) जो कोई ( अतिरिक्तः )

कर्मसमापकेन्द्रियम् ( षट् ) षट्स्थूलेन्द्रियसंबद्धाः ( आहुः ) कथयन्ति विद्वांसः ( द्यावापृथिवीः ) प्रकाशमानाप्रकाशमानलोकान् ( षट् ) षडिन्द्रियाणां सूक्ष्मसामर्थ्ययुक्ताः ( उर्वीः ) विस्तृताः ॥

१७—( षट् ) ( आहुः ) कथयन्ति परमात्मनियमाः ( शीतान् ) अ० १। २५। ४। शीतलान् ( षट् ) ( उ ) एव ( मासः ) माङ् माने—असुन। मासान् ( उष्णान् ) शीतभिन्नान् ( ऋतुम् ) वसन्तादिकम् ( नः ) अस्मभ्यम् ( ब्रूत ) कथयत ( यतमः ) यः कश्चित् ( अतिरिक्तः ) भिन्नः ( सप्त ) शुक्लनीलपीतादिसप्तवर्णयुक्ताः ( सुपर्णाः ) अ० १। २४। १। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः—निरु० ३। १२। आदित्यरश्मयः ( कवयः ) "कवतेः" धातोः गत्यर्थस्य कविः, कवति गच्छत्यसौ नित्यम्—इति दुर्गाचार्यो निरुक्तटीकायाम्, १२। १३। कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्, कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४। १३। गतिशीलानीन्द्रियाणि। गतिशीला आदित्यरश्मयः ( निषेदुः ) निषी-

भिन्न है। ( सप्त ) सात [ वा सात वर्ण वाली ] ( सुपर्णाः ) बड़ी पालने वाली ( कवयः ) गति शील इन्द्रियां [ वा सूर्य की किरणें ] ( सप्त ) सात ( छन्दांसि अनु ) ढकनों [मस्तक के छिद्रों] के साथ ( सप्त ) सात ( दीक्षाः ) संस्कारों में ( नि षेदुः ) बैठी हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—( कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ) अ० १० । २ । ६ ॥

" प्रजापति ने मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख। जिनके विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं ॥" मस्तक में सात गोलक होने में यह अथर्ववेद १० । २ । ६ का प्रमाण मन्त्र है, इसका प्रमाण अ० २ । १२ । ७ में आ चुका है।

विराट्, ईश्वर शक्ति, से वर्ष में द्वन्द्व सूचक शीत और उष्ण दो ऋतु हैं, अन्य ऋतुयें इनके अन्तर्गत हैं। यह ऋतुयें सूर्य की किरणों के तिरछे और सीधे पड़ने से होती हैं। किरणों में, शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र यह सात वर्ण हैं। इन किरणों का प्रभाव मस्तक के सात छिद्रों दो दो कानों, नथनों, आंखों और एक मुख पर पड़ता है। उस से सात संस्कार, दो दो प्रकार के श्रवण, गन्ध, दर्शन और एक कथन शक्ति उत्पन्न होकर समस्त शरीर का पालन करते हैं ॥ १७ ॥

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त। सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥ १८ ॥

सप्त । होमाः । सम्-इधः । ह । सप्त । मधूनि । सप्त । ऋत-

---

दन्ति रम ( सप्त ) ( छन्दांसि ) अ० ४ । ३४ । १ । छदि आच्छादने—असुन्। कः सप्त खानि...... अ० १० । २ । ६ । इति श्रवणात्। आवरकाणि कर्णादीनि शीर्षण्यानि छिद्राणि ( अनु ) अनुसृत्य ( सप्त ) ( दीक्षाः ) अ० ८ । ५ । १५ । संस्करान् ॥

वः । ह । सप्त ॥ सप्त । आज्यानि । परि । भूतम् । आयन् ।
ताः । सप्त-गृध्राः । इति । शुश्रुम । वयम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—( सप्त ) सात ( होमाः ) [ विषयों की ] ग्रहण करने वाली [ इन्द्रियां, त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि ], ( सप्त ) सात (ह) ही (समिधः) विषय प्रकाश करने वाली [ इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियां ], (सप्त) सात ( मधूनि ) ज्ञान [ विषय ] और ( सप्त ) सात ( ह ) ही ( ऋतवः ) गति [ प्रवृत्ति ] हैं । [ वे ही ] ( सप्त ) सात ( आज्यानि ) विषयों के प्रकाश साधन ( भूतम् परि ) प्रत्येक प्राणी के साथ ( ताः ) उन [ प्रसिद्ध ] ( सप्तगृध्राः ) सात इन्द्रियों से उत्पन्न हुई वासनाओं को ( आयन् ) प्राप्त हुये हैं, ( इति ) यह ( वयम् ) हम ने ( शुश्रुम ) सुना है ॥ १८ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने वेदादि शास्त्रों से निश्चय किया है कि सात इन्द्रियों और उनकी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त करके प्राणी कामों में प्रवृत्ति करता है ॥ १८ ॥

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि । कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुः-उत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अ-

१८—( सप्त ) ( होमाः ) हु दानादानादनेषु—मन् । विषयाणां ग्राहिकास्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः ( समिधः ) ज्ञानादिप्रकाशिकाः समिद्रूपा इन्द्रियशक्तयः ( ह ) एव ( सप्त ) ( मधूनि ) ज्ञाने—उ । ज्ञानानि । इन्द्रियविषयाः सप्त ( ऋतवः ) अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । ऋ गतौ—तु । गतयः प्रवृत्तयः ( सप्त ) ( आज्यानि ) अ० ५ । ८ । १ । विषयाणां व्यक्तीकरणानि साधनानि ( परि ) परीत्य । प्राप्य ( भूतम् ) जीवम् ( आयन् ) प्राप्नुवन् ( ताः ) प्रसिद्धाः ( सप्तगृध्राः ) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्—क्रन् । गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४ । १३ । सप्त गृध्राणीन्द्रियाणि यासां ता वासनाः ( इति ) एवम् ( शुश्रुम ) श्रुतवन्तः ( वयम् ) ज्ञानिनः ॥

धि॑ । आर्पि॑तानि ॥ कु॒थम् । स्तोमाः । प्रति । ति॒ष्ठ॒न्ति॒ । तेषु॑ । तानि॑ । स्तोमे॑षु । कु॒थम् । आर्पि॑तानि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—( चतुरुत्तराणि ) [ धर्म अर्थ काम मोक्ष ] चतुर्वर्ग से अधिक उत्तम किये गये ( सप्त ) सात ( छन्दांसि ) ढकने [ मस्तक के सात छिद्र ] ( अन्यः अन्यस्मिन् ) एक दूसरे में ( अधि ) यथावत् ( आर्पितानि ) यथावत् जड़े हुये हैं । ( कथम् ) कैसे ( स्तोमाः ) स्तुति योग्य गुण (तेषु) उन [ मस्तक के गोलकों ] में ( प्रति तिष्ठन्ति ) दृढ़ता से स्थित हैं, ( तानि ) वे [ मस्तक के छिद्र ] ( स्तोमेषु ) स्तुति योग्य गुणों में ( कथम् ) कैसे ( आर्पितानि ) ठीक ठीक जमे हुये हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—मस्तक के सात गोलक दो कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख के द्वारा धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति से मनुष्य उत्तम सुख भोगते हैं, यह दृढ़ ईश्वर नियम है ॥ १९ ॥

कु॒थं गा॑य॒त्री त्रि॒वृतं॒ व्या॑प कु॒थं त्रि॒ष्टुप् प॑ञ्चद॒शेन॑ कल्पते। त्र॒य॒स्त्रिं॒शेन॒ जग॑ती कु॒थम॑नु॒ष्टुप् कु॒थमे॑कवि॒ंशः॥२०॥२३

कु॒थम् । गा॒य॒त्री । त्रि॒-वृत॑म् । वि । आ॒प॒ । कु॒थम् । त्रि॒-स्तुप् । प॒ञ्च॒-द॒शेन॑ । क॒ल्प॒ते॒ ॥ त्र॒यः॒-त्रिं॒शेन॑ । जग॑ती । कु॒थम् । अ॒नु॒-स्तुप् । कु॒थम् । ए॒क॒-वि॒ंशः ॥ २० ॥ ( २३ )

भाषार्थ—( गायत्री ) गाने योग्य [ वह विराट् ] ( त्रिवृतम् ) [ सत्त्व, रज और तमोगुण–इन ] तीनों के साथ वर्तमान [ जीवात्मा ] को ( कथम् ) कैसे

---

१९—( सप्त ) (छन्दांसि) म० १७ । शीर्षण्यानि छिद्राणि (चतुरुत्तराणि) उत्—तरप् । चतुर्वर्गेण धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थेन (अन्योऽन्यस्मिन्) परस्परम् (अधि) अधिकारे (आर्पितानि) सम्यक् निवेशितानि । संलग्नानि ( कथम् ) केन प्रकारेण ( प्रति ) निश्चयेन ( तिष्ठन्ति ) ( तेषु ) छन्दः सु (तानि) छन्दांसि ( स्तोमेषु ) स्तुत्यगुणेषु ॥

२०—( कथम् ) केन प्रकारेण ( गायत्री ) म० १४ । गानयोग्या विराट् (त्रिवृतम् ) वृतु वर्तने—क्विप् । त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैः सह वर्तमानं जीवात्मा-

( वि आप ) व्यापी है, ( त्रिष्टुप् ) [ कर्म, उपासना और ज्ञान इन ] तीनों द्वारा पूजी गयी [ मुक्ति ] ( पञ्चदशेन ) [ म० १४ । पांच प्राण, पांच इन्द्रिय, और पञ्चभूत-इन ] पन्द्रह पदार्थ वाले [ जीवात्मा ] के साथ ( कथम् ) कैसे ( कल्पते ) समर्थ होती है । ( त्रयस्त्रिंशेन ) [ ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति-इन ] तेतीस [देवताओं] को अपने में रखने वाले [परमात्मा] के साथ ( कथम् ) कैसे ( जगती ) प्राप्ति योग्य [ प्रकृति, सृष्टि ] और (कथम्) कैसे ( अनुष्टुप् ) निरन्तर स्तुति योग्य [ वेदवाणी ] और ( एकविंशः ) [ ५ महाभूत, ५ प्राण, ५ ज्ञान इन्द्रिय, ५ कर्म इन्द्रिय और १ अन्तः करण—इन ] इक्कीस पदार्थों वाला [ जीवात्मा ] [ समर्थ होता है ] ॥ २० ॥

भावार्थ—ईश्वर की विविध शक्तियों को साक्षात् करके विज्ञानी योगीजन अपनी शक्तियां बढ़ाकर आनन्द पाते हैं ॥ २० ॥

तेतीस देवता यह हैं,—८ वसु, अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,—११ रुद्र, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ आदित्य अर्थात् महीने,—१ इन्द्र, अर्थात् बिजुली—१ प्रजापति अर्थात् यज्ञ,—अथर्व० ६। १३९। १। तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६६। ६८॥

**अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।**
**अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१॥**

अष्ट । जाता । भूता । प्रथम-जा । ऋतस्य । अष्ट । इन्द्र ।

---

नम् ( व्याप ) व्याप्तवती ( कथम् ) ( त्रिष्टुप् ) म० १४ । कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता ( मुक्तिः ) ( पञ्चदशेन ) म० १५ । पञ्चप्राणेन्द्रियभूतानि यत्र तेन जीवात्मना ( कल्पते ) समर्था भवति ( त्रयस्त्रिंशेन ) त्र्यधिका त्रिंशत् यस्मिन् स त्रयस्त्रिंशः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५।४।७३। बहुव्रीहौ डच् । वसुरुद्रादित्येन्द्रप्रजापतयस्त्रयस्त्रिंशद् देवा यस्मिन् तेन परमात्मना (जगती ) म० १४ । प्राप्तियोग्या । प्रकृतिः । सृष्टिः ( कथम् ) ( अनुष्टुप् ) म० १४ । निरन्तरस्तुत्या वेदवाणी ( कथम् ) ( एकविंशः ) पूर्ववत् डच् । एकाधिका विंशतिर्यस्मिन् सः । पञ्चमहाभूतप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियैरन्तःकरणेन च सह वर्तमानो जीवात्मा ॥

ऋ॒त्विज॑: । दैव्या॑: । ये ॥ अ॒ष्ट-यो॑निः । अदि॑तिः । अ॒ष्ट-पु॑त्रा । अ॒ष्ट॒मीम् । रात्रि॑म् । अ॒भि । ह॒व्यम् । ए॒ति॒ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—( अष्ट ) आठ [ महत्तत्त्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन से सम्बन्ध वाले ] ( जाता ) उत्पन्न ( भूता ) जीव ( प्रथमजा ) आदिकारण [ प्रकृति ] से प्रकट हैं, ( ये ) जो ( अष्ट ) आठ [चार दिशा और चार विदिशा में स्थित ], ( इन्द्र ) हे जीव ! ( ऋतस्य ) सत्य नियम के ( ऋत्विजः ) सब ऋतुओं में देने वाले ( दैव्याः ) दिव्य गुणवाले [ पदार्थ हैं ] । ( अष्टयोनिः ) [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन ] आठ से संयोग वाली, ( अष्टपुत्रा ) [ अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता, इन आठ ऐश्वर्यरूप ] आठ पुत्रवाली ( अदितिः ) अखण्ड [ विराट् ईश्वर, शक्ति ] ( अष्टमीम् ) व्याप्त [जगत् ] को नापने वाली ( रात्रिम् अभि ) रात्रि [ विश्राम देनेवाली मुक्ति ] में ( हव्यम् ) स्वीकार योग्य [ सुख ] [ मनुष्य को ] ( एति ) पहुंचाती है ॥ २१ ॥

भावार्थ—संसार के बीच पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की ईश्वरता में स्थिर चित्त होकर ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

---

२१—( अष्ट ) महत्तत्त्वाहंकारपञ्चभूतमनोभिः संबद्धानि ( जाता ) उत्पन्नानि ( भूता ) भूतानि । जीवाः ( प्रथमजा ) प्रथमात् कारणाज्जातानि ( ऋतस्य ) सत्यनियमस्य ( अष्ट ) दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च सह स्थिताः ( इन्द्र ) हे जीव ( ऋत्विजः ) अ० ६ । २ । १ । ये ऋतौ ऋतौ यजन्ति ददति ते ( दैव्याः ) दिव्यगुणाः पदार्थाः ( अष्टयोनिः ) अष्ट+यु मिश्रणामिश्रणयोः—नि । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योग दर्शने २ । २६ । एतैः सह संयुक्ता ( अष्टपुत्रा ) अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता । इति ऐश्वर्याणि पुत्रसदृशानि यस्याः सा ( अष्टमीम् ) अशू व्याप्तौ—क्त । अष्टं व्याप्तं जगत् माति, मा—क । व्याप्तस्य जगतः परिमात्रीम् ( रात्रिम् ) अ० १ । १६ । १ । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तं चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः—निरु० २ । १८ । विश्रामदात्रीं मुक्तिम् ( अभि ) अभीत्य ( हव्यम् ) हु आदाने—यत् । ग्राह्यं सुखम् ( एति ) अन्तर्गतो णिच् । आययति । गमयति ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा। समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम्। श्रेयः। मन्यमाना। इदम्। आ। अगमम्। युष्माकम्। सख्ये। अहम्। अस्मि। शेवा॥ समान-जन्मा। क्रतुः। अस्ति। वः। शिवः। सः। वः। सर्वाः। सम्। चरति। प्र-जानन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[ हे मनुष्यो! ] ( इत्थम् ) इस प्रकार ( श्रेयः ) आनन्द ( मन्यमाना ) मनाती हुई ( अहम् ) मैं [ विराट् ] ( इदम् ) इस [ चराचर जगत् ] में ( आ अगमम् ) आयी हूं, और ( युष्माकम् ) तुम्हारी ( सख्ये ) मित्रता में ( शेवा ) सुख देने वाली ( अस्मि ) हूं। (समानजन्मा) [कर्म फल के साथ ] एक जन्मवाला ( वः क्रतुः ) तुम्हारा बोध ( शिवः ) मङ्गलकारी (अस्ति) है, ( सः ) वह [ बोध ] ( वः ) तुम्हारी ( सर्वाः ) सब [ आशायें ] ( प्रजानन् ) समझता हुआ ( संचरति ) संचार करता है॥ २२॥

भावार्थ—मनुष्यों के कल्याण के लिये ईश्वर शक्ति प्रकट होकर उन्हें संचित कर्म अनुसार बुद्धि देकर आगे के लिये पुरुषार्थ का उपदेश देती है॥२२

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या३न्नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥

२२—( इत्थम् ) एवम् ( श्रेयः ) प्रशस्य—ईयसुन्। कल्याणम् (मन्यमाना) जानन्ती ( इदम् ) चराचरं जगत् ( आ अगमम् ) आगतवती ( युष्माकम् ) ( सख्ये ) मित्रभावे ( अहम् ) विराट् ( अस्मि ) ( शेवा ) इण्शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। शीङ् शयने—वन्। शेव इति सुखनाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः शिवमित्यप्यस्य भवति—निरु० १०। १७। सुखदा (समानजन्मा) एकोत्पत्तियुक्तः कर्मफलैः सह ( क्रतुः ) प्रज्ञा—निघ० ३। ९ ( अस्ति ) ( वः ) युष्माकम् ( शिवः ) शङ्करः ( सः ) क्रतुः ( वः ) युष्माकम् ( सर्वाः ) अखिला आशा दीर्घाकाङ्क्षाः ( संचरति ) ( प्रजानन् ) प्रबोधन्॥

अष्ट । इन्द्रस्य । षट् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्त-धा ॥ अपः । मनुष्यान् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अनु । सेचिरे ॥ २३ ॥

भाषार्थ—( यमस्य ) नियमवान् ( इन्द्रस्य ) जीव की ( अष्ट ) आठ [ चार दिशा और चार विदिशायें ], ( षट् ) छह [ वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शीत और शिशिर ऋतुयें–अ० ६ । ५५ । २ ], और ( ऋषीणाम् ) इन्द्रियों के ( सप्त ) सात [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि–अ० ४ । ११ । ९ ] ( सप्तधा ) [ उनकी शक्तियों सहित ] सात प्रकार से [ हितकारक हैं ] । ( अपः ) कर्म और ( ओषधीः ) ओषधियों [ अन्न आदि वस्तुओं ] ने ( तान् ) उन [ विद्वान् ] ( मनुष्यान् ) मनुष्यों को ( उ ) ही ( पञ्च अनु ) [ पृथिवी आदि ] पांच भूतों के पीछे पीछे ( सेचिरे ) सींचा है ॥ २३ ॥

भावार्थ—नियमवान् पुरुष, सब स्थानों और सब कालों में सब इन्द्रिय और सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर पूर्वजों के समान, उन्नति करता है ।२३

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना । अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथमम् । दुहाना ॥ अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुः-धा । देवान् । मनुष्यान् । असुरान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

२३—( अष्ट ) पूर्वादिदिशा विदिशाश्च ( इन्द्रस्य ) जीवस्य ( षट् ) अ० ६ । ५५ । २ । वसन्तादृतवः ( यमस्य ) यमो यच्छतीति सतः—निरु० १० । १९ । नियमवतः ( ऋषीणाम् ) अ० ४ । १९ । ९ । त्वक्चक्षुरादीनाम् ( सप्त ) षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । ( सप्तधा ) सप्तप्रकारेण स्वशक्तिभिः सह ( अपः ) कर्म—निघ० २ । १ । ( मनुष्यान् ) ( ओषधीः ) अन्नादिपदार्थाः ( तान् ) ( उ ) एव ( पञ्च ) पृथिव्यादिभूतानि ( अनु ) अनुसृत्य ( सेचिरे ) षच समवाये सेके च । सिक्तवन्तः । वर्द्धितवन्तः ॥

भाषार्थ—( प्रथमम् ) पहिले से (दुहाना) पूर्ति करती हुई, ( केवली ) अकेली ( गृष्टिः ) ग्रहण योग्य [ विराट् ] ने ( हि ) ही ( इन्द्राय ) जीव के लिये ( वशम् ) प्रभुता और ( पीयूषम् ) अमृत [ अन्न, दुग्ध आदि ( दुदुहे ) पूर्ण कर दिया है ( अथ ) तब उस [ विराट् ] ने ( चतुर्धा ) चार प्रकार से [ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष द्वारा ] ( चतुरः ) चारों ( देवान् ) विजय चाहने वालों, ( मनुष्यान् ) मननशीलों, ( असुरान् ) बुद्धिमानों ( उत ) और ( ऋषीन् ) ऋषियों [ धर्म के साक्षात् करने वालों ] को ( अतर्पयत ) तृप्त किया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी शक्ति से प्राणियों के पालन के लिये उन के कर्म अनुसार सब सामग्री उपस्थित करके उनके पुरुषार्थ द्वारा उन्हें धर्म अर्थ, काम और मोक्ष का भागी बनाया है ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एक-ऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम । काः । आ-शिषः ॥ यक्षम् । पृथिव्याम् । एक-वृत् । एक-ऋतुः । कतमः । नु । सः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—( कः नु ) कौन सा ( गौः ) [लोगों का] चलाने वाला, (कः) कौन ( एकऋषिः ) अकेला ऋषि [ सन्मानदर्शक ], ( उ ) और ( किम् ) कौन

---

२४—( केवली ) एकैव ( इन्द्राय ) जीवहिताय ( दुदुहे ) पूरितवती ( हि ) एव ( गृष्टिः ) अ० २ । १३ । २ । ग्रह-क्तिच्, पृषोदरादिरूपम् । ग्राह्या विराट् ( वशम् ) प्रभुत्वम् ( पीयूषम् ) अ० ८ । ३ । १७ । अमृतम् । अन्नदुग्धादिकम् ( प्रथमम् ) अग्रे ( दुहाना ) प्रपूरयन्ती ( अथ ) अनन्तरम् ( अतर्पयत् ) तर्पितवती ( चतुरः ) (चतुर्धा ) चतुष्प्रकारेण धर्मार्थकाममोक्षद्वारा ( देवान् ) विजिगीषून् ( मनुष्यान् ) मननशीलान् ( असुरान् ) अ० १ । १० । १ । प्रज्ञावतः—निरु० १० । ३४ । ( उत ) अपि ( ऋषीन् ) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः पुरुषान् ॥

२५—( कः ) ( नु ) प्रश्ने ( गौः ) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । णिजर्थाद् गमेर्डो । गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ ।

( धाम ) ज्योतिः स्वरूप है, और ( काः ) कौनसी ( आशिषः ) हित प्रार्थनायें हैं। ( पृथिव्याम् ) पृथिवी पर [ जो ] ( एकवृत् ) अकेला वर्तमान ( यक्षम् ) पूजनीय [ब्रह्म] है, ( सः ) वह ( एकर्तुः ) एक ऋतु वाला [ एकरस वर्तमान ] ( कतमः नु ) कौन सा [ पुरुष है ] ॥ २५ ॥

भावार्थ—इन प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ २५ ॥

एको गौरेक॑ एकऋ॒षिरेकं॒ धामै॑क॒धाशिषः॑ ।
य॒क्षं पृ॑थि॒व्यामे॑क॒वृदे॑क॒र्तुर्नाति॑ रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

एकः॑ । गौः । एकः॑ । ए॒क॒ऽऋ॒षिः । एक॑म् । धाम॑ । ए॒क॒ऽधा । आ॒ऽशिषः॑ ॥ य॒क्षम् । पृ॒थि॒व्याम् । ए॒क॒ऽवृत् । ए॒क॒ऽऋ॒तुः । न । अति॑ । रि॒च्य॒ते॒ ॥ २६ ॥ ( २४ )

भाषार्थ—( एकः ) एक [ सर्वव्यापक परमेश्वर ] ( गौः ) [ लोकों का ] चलाने वाला, ( एकः ) एक ( एकऋषिः ) अकेला ऋषि [सन्मार्गदर्शक], ( एकम् ) एक [ ब्रह्म ] ( धाम ) ज्योतिः स्वरूप है, ( एकधा ) एक प्रकार से ( आशिषः ) हित प्रार्थनायें हैं। ( पृथिव्याम् ) पृथिवी पर ( एकवृत् ) अकेला वर्तमान ( यक्षम् ) पूजनीय [ ब्रह्म ], ( एकर्तुः ) एक ऋतु वाला [ एकरस वर्तमान परमात्मा ] [ किसी से ] ( न अति रिच्यते ) नहीं जीता जाता है ॥२६॥

भावार्थ—एक, अद्वितीय, परमेश्वर अपनी अनुपम शक्ति से सर्वशासक है, उसी की आज्ञा पालन सब प्राणियों के लिये हितकारक है ॥ २६ ॥

---

लोकानां गमयिता ( कः ) ( एकऋषिः ) अ० २। ६। १। ऋषिदर्शनात्—निरु० २। ११। अद्वितीयसन्मार्गदर्शकः ( किम् ( उ ) ( धाम ) ज्योतिःस्वरूपम् ( काः ) ( आशिषः ) अ० २। २५। ७। हितप्रार्थनाः ( यक्षम् ) म० ८। यज पूजायाम्—स। पूजनीयं ब्रह्म ( पृथिव्याम् ) भूमौ ( एकवृत् ) अद्वितीयवर्तमानम् (एकर्तुः) एकस्मिन् ऋतौ सदा वर्तमानः कालेनानवच्छेदात् ( कतमः ) सर्वेषां कः ( नु ) ( सः ) ॥

२६—( एकः ) इण्भीकापा० । उ० ३। ४३। इण् गतौ—कन्। एति प्राप्नोतीत्येकः। सर्वव्यापकः केवलः परमेश्वरः ( न ) निषेधे ( अति रिच्यते ) पराभूयते केनापि। अन्यत् पूर्ववत् म० २५ ॥

## सूक्तम् १० ( पर्यायः १ )

[ यह छह पर्याय वाला सूक्त तीसरा ब्रह्मोद्य सूक्त है, देखो-अ० ५।१;८।९॥ ]

१-१३ ॥ विराड् देवता ॥ १ आर्ची पङ्क्तिः; २,४, ६, ८, १०, १२, याजुषी जगती; ३, ९ साम्न्यनुष्टुप् ; ५ साम्नी त्रिष्टुप् ; ७, १३ साम्नी पङ्क्तिः; ११ साम्नी बृहती छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

**विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥**

**वि-राट् । वै । इदम् । अग्रे । आसीत् । तस्याः । जातायाः । सर्वम् । अबिभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति ॥१॥**

भाषार्थ—( विराट् ) विराट् [ विविध ईश्वरी, ईश्वरशक्ति ] (वै) ही (अग्रे) पहिले ही पहिले ( इदम् ) यह [जगत् ] ( आसीत् ) थी, ( तस्याः जातायाः) उस प्रकट हुई से ( सर्वम् ) सब का सब ( अबिभेत् ) डरने लगा, " (इति) बस, ( इयम् एव ) यही ( इदम् ) यह [ जगत् ] (भविष्यति) हो जायगी " ॥१॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले एक ईश्वर शक्ति थी, जिससे ही होनहार सृष्टि उत्पन्न होने के लिये अनुभव होती थी, उसी का वर्णन अगले मन्त्रों में है ॥१॥

---

**सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥**

**सा । उत् । अक्रामत् । सा । गार्हपत्ये । नि । अक्रामत् ॥२॥**

भाषार्थ—( सा ) वह [ विराट् ( उत् अक्रामत् ) ऊपर चढ़ी, ( सा )

---

१—( विराट् ) अ० ८।९।१। विविधेश्वरी। विविधप्रकाशमाना। ईश्वरशक्तिः ( वै ) एव ( इदम् ) जगत् ( अग्रे ) सृष्टेः प्राक् ( तस्याः ) विराजः सकाशात् ( जातायाः ) प्रादुर्भूतायाः ( सर्वम् ) सकलं जगत् ( अबिभेत् ) भयमगच्छत् ( इयम् ) विराट् ( एव ) ( इदम् ) (भविष्यति) प्राकट्यं प्राप्स्यति ( इति ) समाप्तौ । पर्य्याप्ते । परामर्शे ॥

२—( सा ) विराट् ( उत् ) उपरि ( अक्रामत् ) पादं स्थापितवती

वह ( गार्हपत्ये ) गृहपतियों से संयुक्त कर्म में ( नि अक्रामत् ) नीचे उतरी ॥२॥

भावार्थ—उस विराट् ने प्रकट होकर जीव सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार में प्रवेश किया है ॥ २ ॥

गृहमे॒धी गृहप॑तिर्भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

गृह॒-मे॒धी । गृ॒ह-प॑तिः । भ॒व॒ति॒ । यः । ए॒वम् । वेद॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—वह [ पुरुष ] ( गृहमेधी ) घर के काम समझने वाला ( गृहपतिः ) गृहपति ( भवति ) होता है, ( यः ) जो ( एवम् ) ऐसा (वेद) जानता है॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ में वर्णित विराट् की महिमा जान कर मनुष्य संसार के कामों में चतुर होता है ॥ ३ ॥

---

सोद॑क्रामत् साह॑व॒नीये॒ न्य॑क्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आ॒-ह॒व॒नीये॑ । नि । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( सा ) वह [ विराट् ] ( उत् अक्रामत् ) ऊपर चढ़ी, ( सा ) ( आहवनीये ) यज्ञ योग्य व्यवहार में ( नि अक्रामत् ) नीचे उतरी ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस विराट् की महिमा प्रत्येक उत्तम कर्ममें प्रकट होती है॥४

यन्त्य॑स्य दे॒वा दे॒वहू॑तिं प्रि॒यो दे॒वानां॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ५ ॥

यन्ति॑ । अ॒स्य॒ । दे॒वाः । दे॒व-हू॑तिम् । प्रि॒यः । दे॒वाना॑म् । भ॒व॒ति॒ । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( अस्य ) उस [ पुरुष ] के ( देवहूतिम् ) विद्वानों के लिये

---

( सा ) ( गार्हपत्ये ) अ० ५ । ३१ । ५ । गृहपतिभिः संयुक्ते कर्मणि ( नि ) नीचैः ॥

३—( गृहमेधी ) सुप्यजातौ० । पा० ३ । २ । ७८ । गृह + मेधृ वधमेधासंगमेषु-णिनि । गृहं गृहकार्यं मेधति जानाति यः सः ( गृहपतिः ) गृहस्वामी ॥

४—(आहवनीये) आङ् + हु दानादानादनेषु-अनीयर्, यद्वा आहवन—छ-प्रत्ययः । यजनीये व्यवहारे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—( यन्ति ) गच्छन्ति ( अस्य ) तस्य ( देवाः ) विद्वांसः ( देवहूतिम् )

बुलावे में ( देवाः ) विद्वान् लोग ( यन्ति ) जाते हैं, वह ( देवानाम् ) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है, (यः) जो ( एवम् ) ऐसा (वेद) जानता है।५।

भावार्थ—ईश्वर महिमा को जानने वाला पुरुष विद्वानों का प्रिय होताहै।५

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । दक्षिण-अग्नौ । नि । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( सा ) वह [ विराट् ] ( उत् अक्रामत् ) ऊपर चढ़ी, (सा) वह [ सूर्य वा यज्ञ की ] (दक्षिणाग्नौ) बढ़ी हुयी अग्नि में ( नि अक्रामत् ) नीचे उतरी ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा सूर्यादि तेजों और शिल्प आदि व्यवहारों में प्रकट है ॥ ६ ॥

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

यज्ञ-ऋतः । दक्षिणीयः । वासतेयः । भवति । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वह [ पुरुष ] ( यज्ञर्तः ) यज्ञ में पूजा गया, ( दक्षिणीयः ) दक्षिणा योग्य और ( वासतेयः ) बसती योग्य ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर महिमा ही जानकर पुरुष सब प्रकार उन्नति करता है ७

---

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । सभायाम् । नि । ० ॥ ८ ॥

---

विद्वद्भ्य आह्वानम् ( प्रियः ) हितः ( देवानाम् ) विदुषाम् । अन्यत् सुगमम् ॥

६—( दक्षिणाग्नौ ) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । दक्ष वृद्धौ–इनन् । प्रवृद्धे पावके सूर्यस्य यज्ञस्य वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—( यज्ञर्तः ) यज्ञ ऋ गतौ–क्त । यज्ञे पूजितः ( दक्षिणीयः ) कडङ्कर-दक्षिणाच्छ च । पा० ५ । १ । ६६ । दक्षिणा–छ । प्रतिष्ठार्हः (वासतेयः) पथ्यतिथि-वसतिस्वपतेर्ढञ् । पा० ४ । ४ । १०४ । वसति–ढञ् । निवासयोग्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—( सा ) वह [ विराट् ] ( उत् अक्रामत् ) ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( सभायाम् ) सभा [ विद्वानों के समाज ] में ( नि अक्रामत् ) नीचे उतरी ॥८॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ही ईश्वर महिमा का विचार करते हैं ॥ ८ ॥

**यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥**

**यन्ति । अस्य । सभाम् । सभ्यः । भवति । ० ॥ ९ ॥**

भाषार्थ—( अस्य ) उसकी ( सभाम् ) सभा में ( यन्ति ) जाते हैं, वह ( सभ्यः ) सभ्य [ सभा में ] चतुर ( भवति) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, ईश्वर महिमा जानने वाला मनुष्य सभा में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ९ ॥

---

**सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥**

**०सा । सम्-इतौ । नि । ० ॥ १० ॥**

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( समितौ ) संग्राम में ( नि अक्रामत् ) नीचे उतरी ॥ १० ॥

भावार्थ—संग्राम में ईश्वर शक्ति का प्रादुर्भाव होता है ॥ १० ॥

**अन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥**

**०अस्य । सम्-इतिम् । साम्-इत्यः । भवति । ० ॥ ११ ॥**

भाषार्थ—[ लोग ] ( अस्य ) उस के (समितिम् ) संग्राम में (यन्ति ) जाते हैं, वह ( सामित्यः ) संग्राम योग्य [ शूर ] ( भवति ) होता है, (यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का विश्वासी पुरुष संग्राम में विजय पाता है ॥११॥

---

८—( सभायाम् ) विदुषां समाजे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(सभ्यः) सभाया यः । पा० ४ । ४ । १०५ । सभा–यप्रत्ययः । सभायां साधुः । सभासद् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१०—( समितौ ) संग्रामे–निघ० २ । १७ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—( सामित्यः ) परिषदो ण्यः । पा० ४ । ४ । १०१ । समिति–ण्य, बाहुलकात् । संग्रामे साधुः । शूरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥

०सा । आ-मन्त्रणे । नि । अक्रामत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( आमन्त्रणे ) अभिनन्दन स्थान में ( नि अक्रामत् ) नीचे उतरी ॥ १२ ॥

भावार्थ—बड़े लोगों की प्रशंसा में ईश्वर शक्ति दिखाई देती है ॥ १२ ॥

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद १३(२५)

यन्ति। अस्य। आ-मन्त्रणम्। आ-मन्त्रणीयः। भवति। यः०।१३(२५)

भाषार्थ—[ लोग ] ( अस्य ) उसके ( आमन्त्रणम् ) अभिनन्दन में ( यन्ति ) जाते हैं, वह ( आमन्त्रणीयः ) अभिनन्दन योग्य ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञानी पुरुष उच्च पद पाकर संसार में अभिनन्दन योग्य होते हैं ॥ १३ ॥

---

## सूक्तम् १० ( पर्यायः २ )

१—१० ॥ विराड् देवता ॥ १, ८, ९, साम्न्यनुष्टुप्; २ आर्षी बृहती; ३ याजुषी गायत्री; ४, ५, १० साम्नी बृहती; ६ आर्ची बृहती; ७ साम्नी पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥१॥

०सा । अन्तरिक्षे । चतुः-धा । वि-क्रान्ता । अतिष्ठत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सा ) वह [ विराट् ] ( उत् अक्रामत् ) ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( अन्तरिक्षे ) अन्तरिक्ष के बीच ( चतुर्धा ) चार प्रकार [ चारों दिशाओं में ] ( विक्रान्ता ) विक्रम [ पराक्रम ] करती हुई ( अतिष्ठत् ) ठहरी ॥ १ ॥

---

१२—( आमन्त्रणे ) आङ्+मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे—ल्युट् । सम्बोधने । अभिनन्दने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—( आमन्त्रणीयः ) आमन्त्रण—छ । अभिनन्दनीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—( सा ) विराट् ( अन्तरिक्षे ) आकाशे ( चतुर्धा ) चतुष्प्रकारेण । चतसृषु दिक्षु ( विक्रान्ता ) विक्रमयुक्ता, पराक्रमिणी ( अतिष्ठत् ) स्थितवती ॥

भावार्थ—उस ईश्वर शक्ति के पुरुषार्थ से आकाश में लोक लोकान्तर उत्पन्न हुये हैं ॥ १ ॥

तां दे॑वमनु॒ष्या॑ अब्रुवन्नि॒यमे॒व तद् वे॑द॒ यदु॑भय॑ उप॒जी॑वेमे॒मामुप॑ ह्वयामहा॒ इति॑ ॥ २ ॥

ताम् । दे॒व॒-म॒नु॒ष्याः॑ । अ॒ब्रु॒व॒न् । इ॒यम् । ए॒व । तत् । वे॒द॒ । यत् । उ॒भये॑ । उ॒प॒-जीवे॑म । इ॒माम् । उप॑ । ह्व॒या॒म॒है॒ । इति॑ ।२।

भाषार्थ—( ताम् ) उस से ( देवमनुष्याः ) सब दिव्य लोक और मनुष्य ( अब्रुवन् ) बोले, "( इयम् ) यह [ विराट् ] ( एव ) ही ( तत् ) वह [ कर्म ] ( वेद ) जानती है, ( उभये ) हम दोनों दल ( यत् उपजीवेम ) जिसके सहारे जीवें, ( इति ) बस ( इमाम् ) इसे ( उपह्वयामहै ) हम पास से पुकारें" ॥२॥

भावार्थ—सब सूर्य चन्द्र आदि लोक और मनुष्य आदि जीव ईश्वर शक्ति का व्याख्यान करते हैं ॥ २ ॥

तामुपा॑ह्वयन्त ॥ ३ ॥ ताम् । उप॑ । अ॒ह्व॒य॒न्त॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( ताम् ) उसे (उप) पास से (अह्वयन्त) उन्हों ने बुलाया ॥३॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति का खोज करते हैं ॥ ३ ॥

ऊर्ज॒ एहि॒ स्वध॒ एहि॒ सूनृ॑त॒ एही॑रावत्ये॒हीति॑ ॥ ४ ॥

ऊर्जे॑ । आ । इ॒हि॒ । स्वधे॑ । आ । इ॒हि॒ । सूनृ॑ते । आ । इ॒हि॒ । इरा॑वति । आ । इ॒हि॒ । इति॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—"( ऊर्जे ) हे बलवती ! ( आ इहि ) तू आ, ( स्वधे ) हे धन

---

२—( ताम् ) विराजम् ( देवमनुष्याः ) सूर्यचन्द्रादिदिव्यलोका मनुष्यादिप्राणिनश्च ( अब्रुवन् ) अकथयन् ( इयम् ) विराट् ( एव ) ( तत् ) कर्म ( वेद ) जानाति ( यत् ) कर्म ( उभये ) उभादुदात्तो नित्यम् । पा० । २ । ५ । ४४ । उभ—तयप्स्थाने अयच् । द्विसमुदायिनो वयम् ( उपजीवेम ) आश्रित्य प्राणान् धारयेम ( इमाम् ) ( उप ) उपेत्य ( ह्वयामहै ) आह्वयाम ( इति ) ॥

३—( ताम् ) ( उप ) उपेत्य ( अह्वयन्त ) आहूतवन्तः ॥

४—( ऊर्जे ) ऊर्ज्—अर्श आद्यच्, टाप् । हे बलवति ( एहि ) आगच्छ

रखने वाली ! ( आ इहि ) तू आ, ( सूनृते ) हे प्रिय सत्य वाणी वाली ! ( आ इहि ) तू आ, ( इरावति ) हे अन्नवाली ! ( आ इहि ) तू आ, ( इति ) बस" ॥४॥

भावार्थ—सब लोक लोकान्तर और प्राणी विराट् नाम ईश्वर शक्ति का आश्रय लेकर जीवन करते हैं ॥ ४ ॥

**तस्या इन्द्रो वृत्स आसीद् गायुत्र्य॑भिधान्य॒भ्रमूधः ॥५॥**

**तस्याः । इन्द्रः । वृत्सः । आसीत् । गायत्री । अभि-धानी । अभ्रम् । ऊधः ॥ ५ ॥**

भाषार्थ—( तस्याः ) उस [ विराट् ] का ( इन्द्रः ) जीव ( वत्सः ) उपदेष्टा, ( गायत्री ) गान योग्य वेद विद्या ( अभिधानी ) कथन शक्ति ( अभ्रम् ) मेघ ( ऊधः ) सेचन सामर्थ्य ( आसीत् ) हुआ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर शक्ति विराट् के आश्रय सब प्राणी हैं ॥ ५ ॥

**बृहच्च रथंतरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥**

**बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । द्वौ । स्तनौ । आस्ताम् । यज्ञा-यज्ञियम् । च । वाम-देव्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥**

भाषार्थ—( बृहत् ) बृहत् बड़ा [आकाश] ( च च ) और ( रथन्तरम् )

---

( स्वधे ) स्वं धनं दधातीति स्वधा, हे धनधारिके ( सूनृते ) अ० ३ । १२ । २ । सूनृत-अच् । सत्यप्रियवाग्युक्ते ( इरावति ) इरा, अन्नम्—निघ० २ । ७ । हे अन्नवति ( इति ) समाप्तौ ॥

५—( तस्याः ) विराजः ( इन्द्रः ) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५ । २ । ९३ । जीवः ( वत्सः ) वद कथने-स । उपदेष्टा ( आसीत् ) ( गायत्री ) अ० ८ । ९ । १४ । गानयोग्या वेदवाणी ( अभिधानी ) कथनशक्तिः ( अभ्रम् ) मेघः ( ऊधः ) श्वेः संप्रसारणं च । उ० ४ । १९३ । वह प्रापणे—असुन्, यद्वा उन्दी क्लेदने-असुन्, ऊधादेशः । सेचनसामर्थ्यम् ॥

६—( बृहत् ) प्रवृद्धमाकाशम् ( च च ) समुच्चये ( रथन्तरम् ) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । रमु क्रीडायाम्-क्थन् + संज्ञायां भृतॄवृजि० ।

रथन्तर [ रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाला, जगत् ] ( द्वौ ) दो, ( च ) और ( यज्ञायज्ञियम् ) सब यज्ञों का हितकारी [ वेदज्ञान ] ( च ) और ( वामदेव्यम् ) वामदेव [ मनोहर परमात्मा ] से जताया गया [ भूतपञ्चक ] ( द्वौ )-दो ( स्तनौ ) स्तन [ थन समान ] ( आस्ताम् ) हुये ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे गौ के चार थन होते हैं, वैसेही ईश्वर शक्तिसे आकाश, जगत्, वेद; और पञ्चभूत प्रकट हुये हैं ॥ ६ ॥

**ओषधीरेव रथंतरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥७॥**

ओषधीः । एव । रथम्-तरेण । देवाः । अदुहन् । व्यचः । बृहता ॥ ७ ॥

**अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥**

अपः । वाम-देव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( देवाः ) गतिमान् लोकों ने ( एव ) अवश्य ( ओषधीः ) अन्न आदि ओषधियों को ( रथन्तरेण ) रथन्तर [ रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाले जगत् ] द्वारा, ( व्यचः ) विस्तार को ( बृहता ) बृहत् [बड़े आकाश] द्वारा, ( अपः ) प्रजाओं को ( वामदेव्येन ) वामदेव [ मनोहर परमात्मा ] से जताये गये [ भूतपञ्चक ] द्वारा और ( यज्ञम् ) यज्ञ [ संयोग वियोग आदि ]

---

पा० ३ । २ । ४६ । तॄ प्लवनतरणयोः-खच्, मुम् च । रथैः रमणीयपदार्थैस्तरति येन तद् जगत् ( द्वौ ) ( स्तनौ ) स्तन शब्दे-अच् । कुचरूपौ ( आस्ताम् ) ( यज्ञायज्ञियम् ) वीप्सायां द्वित्वम् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ३ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । यज्ञायज्ञ-घप्रत्ययः । सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो हितं वेदज्ञानम् ( वामदेव्यम् ) अ० ४ । ३४ । १ । वामदेवेन प्रशस्यपरमात्मना विज्ञापितं भूतपञ्चकम् ( च ) ( द्वौ ) ॥

७, ८—( ओषधीः ) अन्नादिपदार्थान् ( एव ) अवश्यम् ( रथन्तरेण ) म० ६ । जगद्द्वारा ( देवाः ) गतिशीला लोकाः ( अदुहन् ) अदुहन् । प्रपूरितवन्तः ( व्यचः ) निरु० ८ । १० । विस्तारम् ( बृहता ) म० ६ । प्रवृद्धेनाकाशेन ( अपः ) प्रजाः-दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । उत्पन्नान् पदार्थान् ( वामदेव्येन ) म० ६ । मनोहरेण परमात्मना विज्ञापितेन भूतपञ्चकेन ( यज्ञम् ) संयोगवियोग-

की ( यज्ञायज्ञियेन ) सब यज्ञों के हितकारी [ वेदज्ञान ] द्वारा ( अदुहन् ) दुहा है ॥ ७, ८ ॥

भावार्थ—उसी विराट् ईश्वर शक्ति से सब लोक लोकान्तरों का जीवन और स्थिति है ॥ ७, ८ ॥

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

ओषधीः । एव । अस्मै । रथम्-तरम् । दुहे । व्यचः । बृहत् ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥ २६

अपः । वाम-देव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः।०॥ १० ॥ (२६)

भावार्थ—( रथन्तरम् ) रथन्तर [ रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाला, जगत् ] ( एव ) ही ( व्यचः ) विस्तृत ( बृहत् ) बृहत् [ बड़े आकाश ] से ( ओषधीः ) अन्न आदि ओषधियों को, और ( अपः ) सब प्रजाओं और ( वामदेव्यम् ) वामदेव [ मनोहर परमात्मा ] से जताये गये [ पंचभूत ] से ( यज्ञम् ) पूजनीय व्यवहार और ( यज्ञायज्ञियम् ) सब यज्ञों के हितकारी [ वेदज्ञान ] को ( अस्मै ) उस [पुरुष] के लिये ( दुहे ) दोहता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ९,१० ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष को संसार के सब पदार्थ सुखदायक होते हैं ॥ ९, १० ॥

---

## सूक्तम् १० ( पर्यायः ३ ) ॥

१-८ ॥ विराड् देवता ॥ १ आर्ची पङ्क्तिः; २ आर्च्यनुष्टुप्, ३, ५, ७ प्राजापत्या पङ्क्तिः; ४, ६, ८ प्राजापत्या त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

---

व्यवहारम् ( यज्ञायज्ञियेन ) म० ६ । सर्वयज्ञेभ्यो हितेन वेदज्ञानेन ॥

९,१०—( अस्मै ) ब्रह्मज्ञानिने (दुहे) द्विकर्मकः। दुग्धे । प्रपूरयति (व्यचः) विस्तृतम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

०सा । वनस्पतीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । वनस्पतयः । अघ्नत । सा । सम्-वत्सरे । सम् । अभवत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( वनस्पतीन् ) वनस्पतियों [ वृक्ष आदि पदार्थों ] में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( वनस्पतयः ) वनस्पतियां ( अघ्नत ) प्राप्त हुईं, ( सा ) वह ( संवत्सरे ) संवत्सर [ वर्ष काल ] में ( सम् अभवत् ) संयुक्त हुई ॥ १ ॥

भावार्थ—विराट्, ईश्वर शक्ति का प्रादुर्भाव वृक्ष आदि पदार्थों में है ॥ १

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

तस्मात् । वनस्पतीनाम् । सम्-वत्सरे । वृक्णम् । अपि । रोहति । वृश्चते । अस्य । अप्रियः । भ्रातृव्यः । यः । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—( तस्मात् ) इसी लिये ( संवत्सरे ) वर्ष भर में ( वनस्पतीनाम् ) वनस्पतियों का ( वृक्णम् ) खण्डित अंश ( अपि रोहति ) भर जाता है, ( अस्य ) उसका ( अप्रियः ) अप्रिय ( भ्रातृव्यः ) भ्रातृ भाव से रहित [शत्रु, मनोदोष] ( वृश्चते ) कट जाता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्म ज्ञानी पुरुष अन्न आदि पदार्थों की न्यूनता की पूर्णता वर्ष भर में वृष्टि द्वारा देखकर आत्मिक दोषों के त्याग से ज्ञान की पूर्त्ति द्वारा ईश्वर शक्ति का अनुभव करते हैं ॥ २ ॥

---

१—( वनस्पतीन् ) वृक्षादिपदार्थान् ( आ अगच्छत् ) आगतवती ( ताम् ) विराजम् ( वनस्पतयः ) ( अघ्नत ) हन हिंसागत्योः । अघ्नन् । अगच्छन् ( सा ) ( संवत्सरे ) संवसन्ति ऋतवोऽत्र, सम्+वस-सरन् । द्वादशमासात्मके काले ( सम् अभवत् ) समगच्छत् । अन्यद् गतम् ॥

२—( तस्मात् ) कारणात् ( वृक्णम् ) ओ व्रश्चू छेदने-क्त । खण्डितभागः (अपि रोहति) प्रपूर्य्यते (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते ( अस्य ) ब्रह्मवादिनः । ( अप्रियः ) अहितः ( भ्रातृव्यः ) व्यन्सपत्ने पा० ४ । १ । १४५ भ्रातृ-व्यन् । भ्रातृभावरहितः । शत्रुः । मनोदोषः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत् सास्मासि समभवत् ॥ ३ ॥

०सा । पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । अघ्नत । सा । मासि । सम् । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( पितॄन् ) ऋतुओं में ( आ अगच्छत् ) आई, ( ताम् ) उसको ( पितरः ) ऋतुयें ( अघ्नत ) प्राप्त हुये, ( सा ) वह ( मासि ) महीने में [ वा चन्द्रमा में ] ( सम् अभवत् ) संयुक्त हुई ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति की महिमा ऋतु आदि कालों में प्रकट है ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृ-भ्यः । मासि । उप-मास्यम् । ददति । प्र । पितृ-यानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—( तस्मात् ) इसी कारण ( पितृभ्यः ) ऋतुओं को [ वा ऋतुओं से ] ( मासि ) महीने महीने ( उपमास्यम् ) चन्द्रमा में रहने वाले अमृत को वे [ ईश्वर नियम ] ( ददति ) देते हैं, वह ( पितृयाणम् ) ऋतुओं के चलने योग्य ( पन्थाम् ) मार्ग को ( प्र जानाति ) जान लेता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ऋतुओं के गुणों को जानकर मनुष्य ऋतुओं की सूक्ष्म अवस्था जान लेता है ॥ ४ ॥

---

३—( पितॄन् ) ऋतून्–दयानन्दभाष्ये, यजु० ८ । ६० । ( पितरः ) ऋतवः ( मासि ) मासे मासे । चन्द्रमसि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—( पितृभ्यः ) ऋतूनामर्थम् । ऋतूनां सकाशात् ( मासि ) मासे ( उपमास्यम् ) मासि चन्द्रमसि प्रभवममृतम् ( ददति ) प्रयच्छन्ति, ईश्वरनियमा इति शेषः ( प्र ) प्रकर्षेण ( पितृयाणम् ) ऋतुभिर्गमनीयम् ( पन्थाम् ) मार्गम् । अन्यत् सुगमम् ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत् सार्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । अघ्नत । सा । अर्ध-मासे । सम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( देवान् ) सूर्य की किरणों में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( देवाः ) किरणें ( अघ्नत ) प्राप्त हुये, ( सा ) वह ( अर्धमासे ) आधे महीने [ पखवाड़े ] में ( सम् अभवत् ) संयुक्त हुयी ॥ ५ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति किरणों द्वारा अर्ध मास आदि समय उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्ध-मासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । देव-यानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( तस्मात् ) इस लिये ( देवेभ्यः ) किरणों को [ वा किरणों से ] ( अर्धमासे ) आधे महीने में ( वषट् ) रस पहुंचाना वे [ ईश्वर नियम ] ( कुर्वन्ति ) करते हैं, वह ( देवयानम् ) किरणों के जाने योग्य ( पन्थाम् ) मार्ग को ( प्र जानाति ) जान लेता है ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष किरणों और अर्धमास आदि के सम्बन्ध को यथावत् जान लेता है ॥ ४ ॥

---

५—( देवान् ) देवो दानाद्वा दीपनाद् वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा-निरु० ७ । १५ । देवाः रश्मयः, इति दुर्गाचार्यनिरुक्तटीकायाम्-१२ । ३६ । आदित्यरश्मीन् ( अर्धमासे ) मासपक्षकाले । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—( देवेभ्यः ) किरणानामर्थं किरणानां सकाशाद्वा ( वषट् ) अ० १ । ११ । १ । वह प्रापणे-डषटि । रसप्रापणम् (कुर्वन्ति) निष्पादयन्ति ( देवयानम् ) किरणैर्गन्तव्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३ नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । अघ्नत । सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( मनुष्यान् ) मननशील मनुष्यों में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( मनुष्याः ) मनुष्य ( अघ्नत ) प्राप्त हुये, ( सा ) वह ( सद्यः ) तुरन्त ही ( सम् अभवत् ) [ उनमें ] संयुक्त हुयी ॥ ७ ॥

भावार्थ—मननशील पुरुष ईश्वर शक्ति का अनुभव तुरन्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्यु रूपं हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ ( २७ )

तस्मात् । मनुष्ये-भ्यः । उभय-द्युः । उप । हरन्ति । उप । अस्य । गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥ ( २७ )

भाषार्थ—( तस्मात् ) इसी लिये ( मनुष्येभ्यः ) मनुष्यों को ( उभयद्युः ) दोनों दिन [ प्रति दिन ] वे [ ईश्वर नियम ] ( उप हरन्ति ) उपहार देते हैं, ( अस्य ) उसके ( गृहे ) घर में वे [ ईश्वर नियम ] ( उप हरन्ति ) उपहार देते हैं, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ईश्वर का विचार करने वाले पुरुष सब कुटुम्बियों सहित उत्तम पदार्थों से आनन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

---

७—( मनुष्यान् ) मननशीलान् मनुष्यान् ( सद्यः ) अ० २ । १ । ४ । तत्क्षणम् । अन्यत् सुगमम् ॥

८—( उभयद्युः ) अ० ७ । ११६ । २ । उभयदिनयोः । प्रतिदिनमित्यर्थः । ( उप हरन्ति ) उपहारेण ददति श्रेष्ठपदार्थान् ( गृहे ) गेहे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

## सूक्तम् १० (पर्यायः ४) ॥

१—१६ ॥ विराड् देवता ॥ १, ४, ५, ८, ९ साम्नी जगती; २, ६, १०, १५ साम्नी बृहती; ३ याजुषी जगती; ७, ११, १४ साम्न्युष्णिक्; १२ आर्ची त्रिष्टुप्; १३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; १६ आर्षी जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥

सा । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्वयन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (असुरान्) असुरों [बुद्धिमानों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (असुराः) असुरों [बुद्धिमानों] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(माये) हे बुद्धि! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥

भावार्थ—सब बुद्धिमान् लोग विराट्, ईश्वरशक्ति का विचार करते रहते हैं ॥ १ ॥

माया=प्रज्ञा निघ० ३ । ९ । असुर=प्रज्ञावान् वा प्राणवान्—निरु० १० । ३४ ॥

तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥२॥

तस्याः । वि-रोचनः । प्राह्रादिः । वत्सः । आसीत् । अयः-पात्रम् । पात्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राह्रादिः) प्रह्लाद [बड़े आनन्द वाले परमेश्वर] करके बनाया गया (विरोचनः) विरोचन [विविध चमकने वाला संसार] (तस्याः)

१—(सा) पूर्वोक्ता विराट् (असुरान्) असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा-निरु० १० । ३४ । प्रज्ञावतः पुरुषान् (असुराः) प्रज्ञावन्तः (उप) समीपे (अह्वयन्त) आहूतवन्तः (माये) प्रज्ञे-निघ० ३ । ९ । (आ इहि) आगच्छ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२—(तस्याः) विराजः (विरोचनः) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ७८ । विर् दीप्तौ प्रीतौ च-युच् । विविधं दीप्यमानः । सूर्यः । अग्निः । चन्द्रः । संसारः

उस [ विराट् ] का ( वत्सः ) निवास और ( अयस्पात्रम् ) सुवर्ण का पात्र [ तेजवाले लोकों का आधार हिरण्यगर्भ, परब्रह्म ] ( पात्रम् ) रक्षा साधन ( आसीत् ) था ॥ २ ॥

**भावार्थ**–विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की शक्ति को विविध प्रकार संसार में देखते हैं ॥ २ ॥

**तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥**

**ताम् । द्वि-मूर्धा । आर्त्व्यः । अधोक् । ताम् । मायाम् । एव । अधोक् ॥ ३ ॥**

**भाषार्थ**—( ताम् ) उस [ विराट् ] को ( आर्त्व्यः ) गति में चतुर ( द्विमूर्धा ) दो बन्धन वाले [ संचित और क्रियमाण कर्म वाले जीव ] ने ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् ) उस ( मायाम् ) माया [ बुद्धि ] को ( एव ) ही ( अधोक् ) दुहा है ॥ ३ ॥

**भावार्थ**—संचित अर्थात् पूर्वजन्म के फल और आचार्य आदि से संगृहीत शिक्षारूप फल और दूसरे क्रियमाण कर्म जो पूर्व संस्कार के अनुसार किये जाते हैं, इन दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा मनुष्य परमेश्वर की शक्ति के अभ्यास से आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

---

( प्राह्लादिः ) ह्लादी सुखे शब्दे च–अच्, । लस्य रः । अत इञ् । पा० ४ । १ । ९५ । प्रह्राद–इञ् । तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । प्रह्लादेन आह्लादकेन परमात्मना निर्वृत्तः साधितः ( वत्सः ) वस निवासे–सप्रत्ययः । निवासः ( आसीत् ) ( अयस्पात्रम् ) अयो हिरण्यम्–निघ० । १ । २ । सुवर्णपात्रम् । हिरण्यानां तेजसामाधारः । हिरण्यगर्भः । परब्रह्म ( पात्रम् ) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । पा रक्षणे—ष्ट्रन् । रक्षासाधनम् ॥

३—( ताम् ) विराजम् ( द्विमूर्धा ) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन् मूर्धन्० । उ० । १ । १५९ । मुर्वी बन्धने—कनिन्, उकारस्य दीर्घः, वकारस्य धः । संचितक्रियमाणकर्मभ्यां द्विबन्धनो जीवः ( आर्त्व्यः ) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । ऋत गतौ जुगुप्सायां कृपायां च–उप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । ऋर्तु-यत् । ऋत्व्यवास्त्व्य० । पा । ६ । ४ । १७५ । उकारस्य यण निपानात् । गतौ साधुः ( अधोक् ) दुह प्रपूरणे—लङ् । दुग्धवान् ( ताम् ) ( मायाम् ) बुद्धिम् । विराजम् ( एव ) ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ताम् । मायाम् । असुराः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । भवति । यः ।०॥ ४ ॥

भाषार्थ—( असुराः ) असुर [ बुद्धिमान् ] ( ताम् ) उस ( मायाम् ) माया [ बुद्धि ] का ( उप जीवन्ति ) आश्रय लेकर जीते हैं, ( उपजीवनीयः ) वह [दूसरों का] आश्रय ( भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ।४

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर शक्ति को साक्षात् करके अपनी और दूसरों की उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

---

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥

०सा पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । उप । अह्वयन्त । स्वधे । आ । इहि ।०॥ ५ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( पितॄन् ) पालन करने वाले [ सूर्य आदि लोकों ] में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( पितरः ) पालने वाले [ लोकों ] ने ( उप अह्वयन्त ) पास बुलाया, "(स्वधे) हे आत्मधारण शक्ति ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥५॥

भावार्थ—सब सूर्य आदि लोक ईश्वर शक्ति से धारण आकर्षण द्वारा पुष्ट होकर स्थित हैं ॥ ५ ॥

तस्यां यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ।६।

---

४—( ताम् ) ( मायाम् ) बुद्धिम् ( असुराः ) म० १ । बुद्धिमन्तः ( उप जीवन्ति ) आश्रित्य प्राणान् धारयन्ति ( उपजीवनीयः ) उप+जीवप्राणधारणे-अनीयर् । उपजीव्यः । आश्रयः । अन्येषां जीवनोपायः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—( पितॄन् ) पालकान् सूर्यादिलोकान् (पितरः) पालका लोकाः ( स्वधे ) अ० २ । २९ । ७ । हे आत्मधारणशक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

तस्याः । यमः । राजा । वत्सः । आसीत् । रजत-पात्रम् । पात्रम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—( यमः ) नियमवान् ( राजा ) राजा [ यह प्राणी ] ( तस्याः ) उस [ विराट् ] का ( वत्सः ) उपदेष्टा, और ( रजतपात्रम् ) प्रीति वा ज्ञान वा पूजा का आधार [ ब्रह्म ] ( पात्रम् ) रक्षासाधन ( आसीत् ) था ॥ ६ ॥

भावार्थ—न्यायी धार्मिक पुरुष सूर्यआदि लोकों में ईश्वरशक्ति देखकर परब्रह्म में अनुराग करते हैं ॥ ६ ॥

तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्तकः । मार्त्यवः । अधोक् । ताम् । स्वधाम् । एव अधोक् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—( ताम् ) उस [ विराट् ] को ( अन्तकः ) मनोहर करने वाले ( मार्त्यवः ) मृत्यु के स्वभाव जानने वाले [ जीव ] ने ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् ) उससे ( स्वधाम् ) आत्मधारण शक्ति को ( एव ) भी ( अधोक् ) दुहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मृत्यु के तत्ववेत्ता पुरुष ईश्वर महिमा से अमृत [ पुरुषार्थ ] प्राप्त करके अमर होते हैं ॥ ७ ॥

तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

---

६—( यमः ) नियमवान् प्राणी ( राजा ) ऐश्वर्यवान् ( वत्सः ) वद व्यक्तायां वाचि-स । उपदेष्टा ( रजतपात्रम् ) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । रञ्ज रागे-अतच् । अथवा रजति गतिकर्मा—निघ० २ । १४. रजयति रञ्जयति अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । पूर्ववत्—अतच् । प्रीतिपात्रम् । ज्ञानाधारः । पूजाधारः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—( अन्तकः ) अ० ८ । १ । १ । मनोहरकरो जीवः ( मार्त्यवः ) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ ५९ । मृत्युस्वभाववेत्ता ( ताम् ) तस्याः सकाशात् इत्यर्थः ( स्वधाम् ) आत्मधारणशक्तिम् ( अधोक् ) द्विकर्मकः । दुग्धवान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उप । जीवन्ति । उप-जीव-नीयः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—( पितरः ) पालने वाले [ सूर्य आदि लोक ] ( ताम् ) उस ( स्वधाम् ) आत्मधारण शक्ति [ विराट् ] का ( उप जीवन्ति ) आश्रय लेकर जीते, हैं ( उपजीवनीयः ) वह [ दूसरों का ] आश्रय ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष सूर्य आदि लोकों में ईश्वर शक्ति देखकर उस के आश्रित रह कर सब की उन्नति करते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याउ३न्नागच्छत् तां मनुष्याउ३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । उप अह्वयन्त । इरा-वति । आ । इहि । ०॥ ९ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( मनुष्यान् ) मनुष्यों में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( मनुष्याः ) मनुष्यों ने ( उप अह्वयन्त ) पास बुलाया, "( इरावति ) हे अन्नवती ! ( आ इहि ) तू आ, ( इति ) बस" ॥ ९ ॥

भावार्थ—मननशील पुरुष ईश्वर शक्ति विराट् का विचार बड़े प्रेम से करते हैं ॥ ९ ॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ।१०।

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वत्सः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् ।१०।

भाषार्थ—( वैवस्वतः ) मनुष्यों का [ स्वभाव ] जानने वाला ( मनुः )

---

८—( स्वधाम् ) आत्मधारणशक्तिम् ( पितरः ) पालका सूर्यादिलोकाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—( मनुष्यान् ) मननशीलान् ( इरावति ) इण् गतौ—रन् । इरा=अन्नम्—निघ० २ । ७ । हे अन्नवति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—( मनुः ) मनुर्मननात्—निरु० १२ । ३३ । मननशीलः पुरुषः ( वैव-

मननशील मनुष्य ( तस्याः ) उसका ( वत्सः ) उपदेष्टा और ( पृथिवी ) विस्तार करने वाला [ परमेश्वर ] ( पात्रम् ) रक्षा साधन ( आसीत् ) था ॥१०॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की महिमा जान कर उसका उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥११

ताम् । पृथी । वैन्यः । अधोक् । ताम् । कृषिम् । च । सस्यम् । च । अधोक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—( ताम् ) उसको ( वैन्यः ) बुद्धिमानों के पास रहने वाले ( पृथी ) विस्तारवान् पुरुष ने ( अधोक् ) दुहा है और ( ताम् ) उससे ( कृषिम् ) खेती ( च च ) और ( सस्यम् ) धान्य को ( अधोक् ) दुहा है ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वान् आचार्यों से शिक्षा पाकर परमेश्वर की शक्ति द्वारा अनेक लाभ उठाते हैं ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या ३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ते । कृषिम् । च । सस्यम् । च । मनुष्याः । उप । जीवन्ति । कृष्ट-राधिः । उपजी-वनीयः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( मनुष्याः ) मनुष्य ( ते ) उन दोनों ( कृषिम् ) खेती ( च

---

स्वतः ) विवस्वन्तो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । मनुष्यस्वभाववेत्ता ( वत्सः ) म० ६ । उपदेष्टा ( पृथिवी ) अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे—पिवन् , ङीप् । सर्वजगद्विस्तारकः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—( पृथी ) प्रथ विस्तारे । घञर्थे कविधानं सम्प्रसारणं च । मत्वर्थे—इनि । विस्तारवान् ( वैन्यः ) अ० २ । १ । १ । वेनो मेधावी—निघ० ३ । १५ । अदूरभवश्च । पा० ४ । २ । ७० । इति ण्य । मेधाविनां समीपस्थः ( कृषिम् ) अ० ३ । १२ । ४ । भूमिकर्षणम् ( सस्यम् ) अ० ७ । ११ । १ । धान्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२— (कृष्टराधिः) कृष विलेखने—क्त । सर्वधातुभ्य—इन् । उ० ४ । ११८ ।

च.) और ( सस्यम् ) धान्य का ( उप जीवन्ति ) सहारा लेकर जीते हैं, ( कृष्टराधिः ) वह खेती में सिद्धि वाला ( उपजीवनीयः ) [ दूसरों का ] आश्रय ( भवति ) होता है ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी ज्ञानी पुरुष उत्तम कर्म से उत्तम फल पाकर किसानों के समान उपकारी होते हैं ॥ १२ ॥

---

सोदक्रामत् सा संप्तऋषीनागच्छत् तां संप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

०सा । सप्त-ऋषीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । सप्त-ऋषयः । उप । अह्वयन्त । ब्रह्मण्-वति । आ । इहि । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( सप्तऋषीन् ) सात ऋषियों में [ व्यापन शील वा दर्शन शील अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि में–अ० ४ । ११ । ९ ] ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उस को ( सप्तऋषयः ) सात ऋषियों [ त्वचा आदि ] ने ( उप अह्वयन्त ) पास बुलाया, " ( ब्रह्मण्वति ) हे वेदवती ! ( आ इहि ) तू आ, ( इति ) बस " ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों द्वारा ईश्वर शक्ति का अनुभव करके ब्रह्मविद्या प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( राजा ) राजा ( सोमः ) सुख उत्पन्न करने हारा [ जीवा-

---

राध संसिद्धौ–इन् । भूमिकर्षणसाधकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—( सप्तऋषीन् ) अ० ४ । ११ । ९ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी–निरु० १२ । ३७ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीः ( सप्तऋषयः ) पूर्वोक्ताः त्वक्चक्षुरादयः ( ब्रह्मण्वति ) अ० ६ । १०८ । २ । हे वेदवति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—( सोमः ) सोमः सूर्यः प्रसवनात् ; सोम आत्माप्येतस्मादेव–निरु०

त्मा ] ( तस्याः ) उस [ विराट् ] का ( वत्सः ) उपदेष्टा और ( छन्दः ) स्वतन्त्रता [ रूप ब्रह्म ] ( पात्रम् ) रक्षा साधन ( आसीत् ) था ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह जीवात्मा परमेश्वर की स्वतन्त्रता में अनन्त शक्ति साक्षात् करके आनन्द पाता है ॥ १४ ॥

तां बृहुस्पतिराङ्गिरसोऽधोक् तां ब्रह्मं च तपंश्चाधोक् ॥१५॥

ताम् । बृहुस्पतिः । आङ्गिरुसः । अधोक् । ताम् । ब्रह्मं । च । तपः । च । अधोक् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—( आङ्गिरसः ) महाज्ञानी परमेश्वर के जानने वाले ( बृहस्पतिः ) बड़े बड़े गुणों के रक्षक पुरुष ने ( ताम् ) उस [ विराट् ] को ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् ) उसी से ( ब्रह्म ) वेद ( च च ) और ( तपः ) तप [ ब्रह्मचर्य आदि व्रत वा ऐश्वर्य ] को ( अधोक् ) दुहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष ईश्वर शक्ति से वेद और सामर्थ्य प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्मं च तपंश्च सप्तऋषय उपं जीवन्ति ब्रह्मवर्च॒स्युपजीवनीयो भवति य एवं वेदं ॥ १६ ॥ ( २८ )

तत् । ब्रह्मं । च । तपः । च । सप्त-ऋषयः । उपं । जीवन्ति । ब्रह्म-वर्चसी । उप-जीवनीयः । ० ॥ १६ ॥ (२८)

भाषार्थ—( सप्तऋषयः ) सात ऋषि [ त्वचा आदि—म० ४ ] ( तत् ) उस ( ब्रह्म ) वेद ( च च ) और ( तपः ) तप [ ब्रह्मचर्य आदि व्रत वा

१४ । १२ । सुखोत्पादको जीवात्मा ( राजा ) ऐश्वर्यवान् ( छन्दः ) स्वातन्त्र्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—( बृहस्पतिः ) अ० १ । ८ । २ । बृहतां गुणानां रक्षकः ( आङ्गिरसः ) अ० ५ । १६ । २ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । अङ्गिरस्-अण् । आङ्गिरसः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य वेत्ता ( ब्रह्म ) वेदम् ( तपः ) ब्रह्मचर्यादिव्रतम् । ऐश्वर्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६ ( ब्रह्मवर्चसी ) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । पा० ५ । ४ । ७८ । अच्

ऐश्वर्य ] का ( उप जीवन्ति ) सहारा लेकर जीते हैं, ( ब्रह्मवर्चसी ) वेद विद्या से प्रकाशवाला ( उपजीवनीयः ) [ दूसरों का ] आश्रय ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वेदविद्या और तपश्चरण से तेजस्वी होकर आनन्द भोगते हैं ॥ १६ ॥

## सूक्तम् १० ( पर्यायः ५ ) ॥

१—१६ ॥ विराड् देवता ॥ १, ६ आर्च्युष्णिक्; २, ३ साम्न्युष्णिक्; ४, १३, १६ प्राजापत्या पङ्क्तिः; ५, ८ आर्ची त्रिष्टुप्; ७, १०, १४ प्राजापत्या बृहती; ६ आर्ची पङ्क्तिः; ११ आर्ची गायत्री १२ आर्ची जगती; १५ साम्न्यनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥

सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । उप । अह्वयन्त । ऊर्जे । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा ) वह ( देवान् ) विजय चाहने वाले पुरुषों में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( देवाः ) विजय चाहने वालों ने ( उप अह्वयन्त ) पास बुलाया, "( ऊर्जे ) हे बलवती ! ( आ इहि ) तू आ, ( इति ) बस" ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय विजयी पुरुष ईश्वर महिमा में आनन्द पाते हैं ॥१॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । चमसः । पात्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—( इन्द्रः ) ऐश्वर्यवान् जीव ( तस्याः ) उस [ विराट् ] का ( वत्सः ) उपदेष्टा, और ( चमसः ) अन्न का आधार [ ब्रह्म ] ( पात्रम् ) रक्षा साधन ( आसीत् ) था ॥ २ ॥

---

समासान्तः, तत इति । वेदविद्याप्रदीप्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—( देवान् ) विजिगीषून् ( देवाः ) विजिगीषवः ( ऊर्जे ) पर्यायः २ म० ४ । हे बलवति । शिष्टं पूर्ववत् ॥

२-( चमसः ) अ० ६ । ४७ । ३ । अन्नाधारः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष परमेश्वर शक्ति का सदा उपदेश करते हैं॥२

तां दे॒वः स॑वि॒ताधो॑क् तामू॒र्जामे॒वाधो॑क् ॥ ३ ॥

ताम् । दे॒वः । स॒वि॒ता । अ॒धो॒क् । ताम् । ऊ॒र्जाम् । ए॒व । अ॒धो॒क् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—( ताम् ) उस [ विराट् ] को ( देवः ) ज्ञानी ( सविता ) सर्व प्रेरक पुरुष ने ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् ऊर्जाम् ) उस बलवती को ( एव ) अवश्य ( अधोक् ) दुहा है ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषार्थी पुरुष ईश्वर शक्ति से उपकार लेते हैं ॥ ३ ॥

तामू॒र्जां दे॒वा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

ताम् । ऊ॒र्जाम् । दे॒वाः । उप॑ । जी॒व॒न्ति॒ । उ॒प॒ऽजी॒व॒नीयः॑ ।०॥४॥

भाषार्थ—( देवाः ) विजय चाहने वाले पुरुष ( ताम् ऊर्जाम् ) उस बलवती का ( उप जीवन्ति ) सहारा लेकर जीते हैं, ( उपजीवनीयः ) वह [ दूसरों का ] आश्रय ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर महिमा से मनुष्य विजय पाते हैं, ऐसा जानने वाला पुरुष सदा उपकारी होता है ॥ ४ ॥

---

सोद॑क्राम॒त् सा ग॑न्धर्वाप्स॒रस॒ आग॑च्छ॒त् तां ग॑न्धर्वाप्स॒रस॒ उपा॑ह्वयन्त॒ पुण्य॑गन्ध॒ एही॒ति ॥ ५ ॥

०सा । ग॒न्ध॒र्व॒ऽअ॒प्स॒रसः॑ । आ । अ॒ग॒च्छ॒त् । ताम् । ग॒न्ध॒र्व॒ऽअ॒प्स॒रसः॑ । उप॑ । अ॒ह्व॒य॒न्त॒ । पुण्य॑ऽगन्धे । आ । इ॒हि॒ ।०॥५॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, ( सा )

---

३-( देवः ) गतिमान् । ज्ञानवान् ( सविता ) सर्वप्रेरकः पुरुषः (ऊर्जाम्) बलवतीम् ( एव ) अवश्यम् । अन्यद् गतम् ॥

४—( उपजीवनीयः ) अन्येषामाश्रयणीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५-( [illegible] ) अ० ८ । ८ । १५ । गा इन्द्रियाणि धरन्ति ये ते

वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरों में [इन्द्रिय रखने वालों और प्राणों द्वारा चलने वाले जीवों में] (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) इन्द्रिय रखने वालों और प्राणों द्वारा चलने वाले जीवों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(पुण्यगन्धे) हे पवित्र ज्ञानवाली (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति के आधार रहते हैं ॥ ५ ॥

**तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपुर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥**

**तस्याः। चित्र-रथः। सौर्य-वर्चसः। वत्सः। आसीत्। पुष्कर-पुर्णम्। पात्रम् ॥ ६ ॥**

भाषार्थ—(सौर्यवर्चसः) सूर्य का प्रकाश जानने वाला (चित्ररथः) विचित्र रमणीय गुणों वाला [जीव] (तस्याः) उसका (वत्सः) उपदेष्टा और (पुष्करपर्णम्) पुष्टि का पूर्ण करने वाला ब्रह्म (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य आदि लोकों की विद्या जानने वाला पुरुष परमेश्वर शक्ति का व्याख्यान करता है ॥ ६ ॥

**तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥**

**ताम्। वसु-रुचिः। सौर्य-वर्चसः। अधोक्। ताम्। पुण्यम्। एव। गन्धम्। अधोक् ॥ ७ ॥**

---

गन्धर्वा, अद्भिः प्राणैः सह सरन्ति ये ते अप्सरसः, तान् जीवान् (पुण्यगन्धे) अ० ४। ५। ३। हे पवित्रगते शुद्धज्ञाने। अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(चित्ररथः) विचित्ररमणीयगुणो जीवः (सौर्यवर्चसः) तदधीते तद्वेद। पा० ४। २। ५९। सूर्यवर्चस्-अण्। सूर्यस्य प्रकाशवेत्ता (पुष्करपर्णम्) पुषः कित्। उ० ४। ४। पुष पोषणे-करन्। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। पॄ पालनपूरणयोः-न। पुष्टिपूरकं ब्रह्म। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [ विराट् ] को ( सौर्यवर्चसः ) सूर्य के प्रकाश जानने वाला (वसुरुचिः) वसु [सब के निवास परमेश्वर] में रुचि वाले [जीव] ने ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् एव ) उससे ही ( पुण्यम् ) पवित्र ( गन्धम् ) ज्ञान को ( अधोक् ) दुहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष ईश्वर शक्ति से अनेक ज्ञान प्राप्त करता है ।७।

**तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥**

**तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गन्धर्व-अप्सरसः । उप । जीवन्ति । पुण्य-गन्धिः । उप-जीवनीयः । ० ॥ ८ ॥**

भाषार्थ—( गन्धर्वाप्सरसः ) गन्धर्व और अप्सर लोग [ इन्द्रिय रखने वाले और प्राण द्वारा चलने वाले जीव] (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (गन्धम्) ज्ञान का ( उप जीवन्ति ) सहारा लेकर जीते हैं, वह ( पुण्यगन्धिः ) पवित्र ज्ञान वाला [ पुरुष ] [ दूसरों का ] ( उप जीवनीयः ) आश्रय ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति से ही जीते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष परोपकारी होता है ॥ ८ ॥

---

**सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥**

**०सा । इतर-जनान् । आ । अगच्छत् । ताम् । इतर-जनाः ।**

---

७—( ताम् ) विराजम् ( वसुरुचिः ) वसौ सर्वनिवासे जगदीश्वरे रुचिः प्रीतिर्यस्य स जीवः ( गन्धम् ) गन्ध गतिहिंसायाचनेषु-अच् । बोधम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—( तम् ) पूर्वोक्तम् ( गन्धर्वाप्सरसः ) म० ५ । इन्द्रियधारकाः प्राणैः सह च सरणशीला जीवाः ( पुण्यगन्धिः ) अ० ४ । ५ । ३ । पवित्रज्ञानयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

उप । अह्वयन्त । तिरः-धे । आ । इहि । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (इतरजनान्) दूसरे [पामर] जनों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (इतरजनाः) दूसरे जनों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(तिरोधे) हे अन्तर्धान [गुप्त रूप] शक्ति! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ ९ ॥

भावार्थ—संसार में देखते हुये भी अज्ञानी पुरुष ईश्वरशक्ति को विशेष रूप से नहीं जानते ॥ ९ ॥

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥१०॥

तस्याः । कुबेरः । वैश्रवणः । वत्सः । आसीत् । आम-पात्रम् । पात्रम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(वैश्रवणः) विशेष श्रवण [ज्ञान] वाला (कुबेरः) कुबेर [विद्वान् पुरुष] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (आमपात्रम्) सब गतियों का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १० ॥

भावार्थ—विशेष श्रवण मनन करने वाले पुरुष उस परमात्मा की शक्ति का यथावत् उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥११॥

ताम् । रजत-नाभिः । काबेरकः । अधोक् । ताम् । तिरः-धाम् । एव । अधोक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (कावेरकः) प्रशंसनीय गुणों के

९—(इतरजनान्) अन्यलोकान् । पामरान् । अज्ञानिनः (तिरोधे) तिरस् +दधातेः—अङ्, टाप् । हे अन्तर्धे । गुप्तरूपशक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(तस्याः) विराजः (कुबेरः) कुम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ५९ । कुबि आच्छादने—एरक् । धनाध्यक्षः । विद्वान् (वैश्रवणः) विश्रवण—अण् । विश्रवणेन विशेषज्ञानेन युक्तः (आमपात्रम्) अम गतौ भोजने च—घञ् । सर्वगतीनामाधारो ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(ताम्) विराजम् (रजतनाभिः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ ।

निवास ( रजतनाभिः ) ज्ञान के प्रबन्धक [ वा क्षत्रिय ] ने ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् ) उस ( तिरोधाम् ) अन्तर्धान शक्ति को (एव) ही ( अधोक् ) दुहा है।११

भावार्थ—ज्ञानी शूर पुरुष ईश्वर शक्ति से उपकार लेते हैं ॥ ११ ॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ताम् । तिरः-धाम् । इतर-जनाः । उप । जीवन्ति । तिरः । धत्ते । सर्वम् । पाप्मानम् । उप-जीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—( इतरजनाः ) दूसरे लोग ( ताम् ) उस ( तिरोधाम् ) अन्तर्धान शक्ति का ( उप-जीवन्ति ) आश्रय लेकर जीते हैं, वह पुरुष ( सर्वम् ) सब ( पाप्मानम् ) पाप को ( तिरो धत्ते ) तिरस्कार करता है, और [ दूसरों का ] ( उपजीवनीयः ) आश्रय ( भवति ) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—अज्ञानी लोग भी ईश्वर शक्ति को मानते हैं, ऐसा श्रद्धावान् पुरुष अपने पाप नाश करके सर्व माननीय होता है ॥ १२ ॥

---

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

---

१११ । रजति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अतच् । नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने-इञ्, हस्य भः । नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरे-तस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च-निरु० ४ । २१ । गतेर्ज्ञानस्य प्रबन्धकः क्षत्रियो वा ( कावेरकः ) पतिकठिकुठि० । उ० १ । ५८ । कवृ स्तुतौ वर्णे च-एरक्, यद्वा कवते गतिकर्मा—निघ० २ । ४ ।—एरक् । वुञ्छण्-कठ० । पा० ४ । २ । ८० । कवेर-वुञ् । तस्य निवासः । पा० ४ । २ । ६८ । इत्यर्थे । कवेराणां स्तुत्यगुणानां निवासः ( तिरोधाम् ) म० ६ । अन्तर्धानशक्तिम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—( ताम् ) विराजम् ( इतरजनाः ) म० ६ । अन्ये । पामराः ( तिरोधत्ते ) तिरस्कृत्य धरति ( पाप्मानम् ) अ० ३ । ३१ । १ । पापम् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । सर्पान् । आ । अगच्छत् । ताम् । सर्पाः । उप । अह्वयन्त । विष-वति । आ । इहि । इति ॥१३॥

भाषार्थ—( सा उत् अक्रामत् ) वह [ विराट् ] ऊपर चढ़ी, (सा) वह ( सर्पान् ) सर्पों में ( आ अगच्छत् ) आयी, ( ताम् ) उसको ( सर्पाः ) सांपों ने ( उप अह्वयन्त ) पास बुलाया, "( विषवति ) हे विषैली ! ( आ इहि ) तू आ, ( इति ) बस " ॥ १३ ॥

भावार्थ—उस विराट् ईश्वर शक्ति के प्रभाव से सर्प आदि जीव अपने कर्म फल द्वारा विषधारी होते हैं ॥ १३ ॥

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥१४

तस्याः । तक्षकः । वैशालेयः । वत्सः । आसीत् । अलाबु-पात्रम् । पात्रम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—( वैशालेयः ) विशाला [ प्रवेश शक्ति ब्रह्मविद्या ] का जानने वाला ( तक्षकः ) सूक्ष्मदर्शी [ वा विश्वकर्मा पुरुष ] ( तस्याः ) उस [ विराट् ] का ( वत्सः ) उपदेष्टा और ( अलाबुपात्रम् ) न डूबने वाला रक्षक [ ब्रह्म ] ( पात्रम् ) रक्षा साधन ( आसीत् ) था ॥ १४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी सूक्ष्मदर्शी पुरुष ईश्वर शक्ति का प्रभाव जानते हैं ॥ १४

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥

ताम् । धृत-राष्ट्रः । ऐरा-वतः । अधोक् । ताम् । विषम् । एव । अधोक् ॥ १५ ॥

---

१३—( सर्पान् ) भुजङ्गमान् ( विषवति ) हे विषयुक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—( तस्याः ) विराजः ( तक्षकः ) ण्वुल् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि । उ० २ । ३२ । तक्ष तनूकरणे—ण्वुल् । तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा पुरुषः ( वैशालेयः ) तमिविशिविडि० । उ० १ । ११८ । विश प्रवेशने—कालन्, टाप् । स्त्रीभ्यो ढक् । पा० ४ । १ । १२० । विशाला—ढक् । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इत्यर्थे । प्रवेशशक्तेर्विशालाया ब्रह्मविद्याया वेत्ता ( अलाबुपात्रम् ) कृवापा० । उ० १ । १ । न+लबि अवस्रंसने—उण्, नलोपः । नञिलम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । अत्र तु ऊप्रत्ययः स्त्रियाम् । अनधःपतनशीलरक्षकं ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—( ताम् ) उसको ( ऐरावतः ) भूमिवालों के स्वभाव जानने वाले ( धृतराष्ट्रः ) राज्य रखने वाले पुरुष ने ( अधोक् ) दुहा है, ( ताम् ) उस से ( एव ) ही ( विषम् ) विष को ( अधोक् ) दुहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—नीति कुशल लोग ईश्वर शक्ति से ही विष की विवेचना करते हैं ॥ १५ ॥

तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥ ( २९ )

तत् । विषम् । सर्पाः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । भवति । यः । ० ॥ १६ ॥ ( २९ )

भाषार्थ—( सर्पाः ) सर्प ( तद् विषम् ) उस विष का ( उप जीवन्ति ) आश्रय लेकर जीते हैं, वह पुरुष ( उपजीवनीयः ) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, ( यः एवम् वेद ) जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—दुष्टों की दुष्टता जानने वाला पुरुष शिष्टों का आश्रयणीय होता है ॥ १६ ॥

## सूक्तम् १० ( पर्यायः ६ ) ॥

१–४ ॥ विराड् देवता ॥ १ साम्नी बृहती; २ साम्नी पङ्क्तिः; ३ साम्न्युष्णिक्; ४ आर्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः-ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत्प्रत्याहन्यात् ॥ १ ॥

तत् । यस्मै । एवम् । विदुषे । अलाबुना । अभि-सिञ्चेत् । प्रति-आहन्यात् ॥ १ ॥

१५—( ताम् ) विराजम् ( धृतराष्ट्रः ) धृतं राष्ट्रं येन । राज्यधारकः (ऐरावतः) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० । २ । २८ । इण् गतौ—रन् निपात्यते । इरा मतुप् । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इरावत्-अण् । इरावतां भूमिवतां स्वभाववेत्ता ( विषम् ) अ० ४ । ६ । १ । शरीरनाशकं द्रव्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—( सर्पाः ) भुजङ्गाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—( तत् ) विस्तार करने वाला [ ब्रह्म ] ( एवम् ) इस प्रकार ( यस्मै विदुषे ) जिस विद्वान् को ( अलाबुना ) न डूबने वाले कर्म से ( अभिषिञ्चेत् ) सब प्रकार सींचे, वह [ विद्वान् ] [ विष को ] ( प्रत्याहन्यात् ) हटा देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य ब्रह्म को जानकर दोषों का नाश करे। इस मंत्र में [ विष ] पद का अनुकर्षण मन्त्र ३ में से है ॥ १ ॥

न चं प्रत्याहन्यान्मनंसा त्वा प्रत्याहन्मीतिं प्रत्याहंन्यात् २

न । च । प्रति-आहन्यात् । मनंसा । त्वा । प्रति-आहंन्मि । इति । प्रति-आहंन्यात् ॥ २ ॥

यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहंन्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्रति-आ हन्ति । विषम् । एव । तत् । प्रति-आहंन्ति ॥३॥

भाषार्थ—( च ) और ( न ) अब वह [ विद्वान् ] [ विष को म० ३ ] ( प्रत्याहन्यात् ) हटा देवे, "[हे विष] ! ( मनसा ) मनन के साथ ( त्वा ) तुझ को ( प्रत्याहन्मि ) मैं निकाले देता हूं," ( इति ) इस प्रकार वह [ उसे ] ( प्रत्याहन्यात् ) हटा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—[ तब ] ( यत् ) नियन्ता [ ब्रह्म ] ( विषम् ) विष को ( एव ) [ इस प्रकार ( प्रत्याहन्ति ) हटा देता है, ( तत् ) विस्तार करने वाला [ ब्रह्म ] ( प्रत्याहन्ति ) हटा देता है ॥ ३ ॥

१—( तत् ) तनोतीति तत्। तनु विस्तारे-क्विप्। गमः क्वौ। पा० ६।४।४०। गमादीनामिति वक्तव्यम्, वार्तिकम्। मलोपः, तुक्। विस्तारकं ब्रह्म ( एवम् ) अनेन प्रकारेण ( यस्मै विदुषे ) सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्। वा० पा० ७। १। ३९। द्वितीयार्थे चतुर्थी। यं विद्वांसम् ( अलाबुना ) पर्यायः ५ म० १४। न+लबि अवस्रंसने-उण्। अनधःपतनशीलेन कर्मणा ( अभिषिञ्चेत् ) अभितः सिञ्चेत् वर्धयेत् ( प्रत्याहन्यात् ) प्रतिरुन्ध्यात्-विषमिति शेषः म० ३ ॥

२, ३-( न ) सम्प्रति-निरु० ७। ३१ ( च ) ( मनसा ) मननेन ( त्वा ) त्वां विषम् ( प्रत्याहन्मि ) प्रतिकूलं नाशयामि ( इति ) ( यत् ) यमयतीति। यत्। यम-क्विप्। गमादीनामिति वक्तव्यम्। वा० पा० ६। ४। ४०। मलोपः, नियन्तृ ब्रह्म ( विषम् ) दोषम् ( एव ) एवम् ( तत् ) म० १। विस्तारकं ब्रह्म अन्यत् पूर्ववत् ॥

**भावार्थ**—जब मनुष्य विचार पूर्वक दोष हटाने का प्रयत्न करता है, ब्रह्म की कृपा से उसके सब दोष क्षीण होजाते हैं ॥ २, ३ ॥

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४॥(३०)

विषम् । एव । अस्य । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । अनु-विषिच्यते । यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥ ( ३० )

**भाषार्थ**-( विषम् ) विष [ दोष ] ( एव ) इस प्रकार ( अस्य ) उस [ पुरुष ] के ( अप्रियम् ) अप्रिय ( भ्रातृव्यम् ) भ्रातृभाव रहित [ ब्रह्म निन्दक ] को ( अनुविषिच्यते ) व्याप कर नष्ट कर देता है, ( यः ) जो ( एवम् ) ऐसा ( वेद ) जानता है ॥ ४ ॥

**भावार्थ**—विद्वान् का विरोधी ब्रह्मनिन्दक दोषभागी होकर नष्ट हो जाता है, ऐसा मनुष्य को जानना चाहिये ॥ ४ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इत्यष्टमं काण्डम् ॥

---

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम **श्री सयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित** बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

**क्षेमकरणदास त्रिवेदिना**

कृते अथर्ववेदभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥

---

इदं काण्डं प्रयागनगरे मार्गशीर्षमासे शुक्लदशम्यां तिथौ १९७३ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि **श्रीराजराजेश्वर पञ्चम-जार्ज महोदयस्य** सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

---

मुद्रितम्—पौषकृष्णा ६ संवत् १९७३ ता० १५ दिसम्बर १९१६ ॥

---

४—( विषम् ) दोषः, इत्यर्थः ( एव ) एवम् ( अस्य ) ब्रह्मवादिनः ( अप्रियम् ) अप्रीतिकरम् ( भ्रातृव्यम् ) अ० २ । १८ । १ । भ्रातृभावशून्यं ब्रह्मनिन्दकं शत्रुम् ( अनुविषिच्यते ) कर्तरि कर्मवाच्यम् । व्याप्य विरुद्धं [illegible], नाशयती-त्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

# अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

**श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ ( अ ) ( ब ) की लिपि।**

( अ ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

( ब ) सभा सम्पत्ति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरण दास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

**लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी ( संख्या ५९७६ प्राप्त २० जूलाई १९१६ ई० )।**

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है, अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदीजी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करे। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुतही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेजी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्रव्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B. Sc., L. L. B. उप मन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय काड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली वनाने में वड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

**मदनमोहन सेठ,**

( एम० ए० एल० एल० वी० ) मन्त्री सभा।

---

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १६१३।

यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की वड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य वन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता कुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १६१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [ प्रथम ] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी वढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी ( कापी ) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक वड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें। निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।...

---

श्रीयुत महाशय **मुन्शीरामजी**-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७—१०—१६६६।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

---

श्रीयुत **पं० शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

---

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढङ्ग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

---

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है। आपने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तय्यार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवसमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है छपाकर भेज दीजिये, मेरी एक वहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**-कानपुर सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है।" आप का भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रेल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को क़म से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपे मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिम्बर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेदभाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, ( सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ )**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट पी० डब्ल्यू० डी० थी प्रयागराज, पत्र ता० १७—९—१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

---

**प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ ( २५ जून १९१६— लेखक श्रीयुत पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी )**

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी ( दयानन्द ) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पण्डित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पण्डित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी है। इस सम्बन्ध में यह अथर्व वेद के पांच कांड छपवाकर निस्सन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्व वेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायणभाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई......इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पण्डित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द···विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा; परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरण दास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है......त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें॥

---

*The VIDYADHIKARI* ( Minister of Education ), *Baroda State letter No.* 624 *dated* 6*th February* 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

---

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan

Letter dated March 25th, 1914.

*The Atharva Veda Bhashya*:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.'

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

---

The Magistrate of Allaahabad,

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

---

*THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL* 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.